गिजुभाई-ग्रन्थमाला-7

शिक्षक हों तो

गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला–7

शिक्षक हों तो

लेखक
गिजुभाई

अनुवाद
रामनरेश सोनी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर (चूरू) 331802

दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर–364 002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
रायचन्द प्रदीप कुमार कुंडलिया
द्वारा कुंडलिया इंडस्ट्रियल कॉर्पोरेशन
नं. 1 चांदनी चौक स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रकाशन-वर्ष : 1988
प्रतियां : 1,100
मूल्य : आठ रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता–पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेष-तया अर्थ के अभाव में तो असम्भव प्राय: हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में शिक्षक हों तो के प्रकाशन का व्ययभार कलकत्ते के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाले श्री रायचन्द प्रदीप कुमार कुंडलिया ने सहर्ष वहन किया है। अभिभावकोंकी शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने हैं वे। इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिश: आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए जाने-माने शिक्षाविद् और लेखक श्री कृष्ण कुमार का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —कुन्दन बैद
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दु:ख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दु:ख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्राय: हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मन: प्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मंगलमय प्रभु की परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्द: तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 में क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने ओर बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बंद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बंद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव—पीपल्याराव,
इन्दौर–452 001

भूमिका

बीसवीं सदी के इन अन्तिम वर्षों में बहुत-से अध्यापकों को लगता है कि देश के जीवन में अब उनकी कोई सम्मानजनक भूमिका नहीं रह गई है। यह भावना प्राइमरी स्तर से लगाकर विश्वविद्यालय तक के अध्यापकों में व्याप्त है भले ही प्राइमरी अध्यापक की भौतिक परिस्थिति इस भावना को कहीं अधिक वाजिब ठहराने वाली है। औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था की शुरुआत के साथ ही जैसी उदासी और निरीहता अध्यापन के धंधे पर छाने लगी थी, वह आज डेढ़ सौ वर्षों बाद पहले के किसी भी क्षण से अधिक सघन दिखती है। अध्यापक संगठनों ने इतना अवश्य किया है कि एकाकी शिक्षक की लाचारी सामूहिक शक्ति और संघर्ष-क्षमता में छिप जाए।

ऐसी परिस्थिति में बच्चों के प्रति उत्साहित महसूस करने वाला अध्यापक एक अपवाद है। वह किन कारणों से अपना उत्साह बचा सका है, यह सवाल दीगर है। महत्व की बात यह है कि ऐसा अध्यापक भी परीक्षा के दबाव, पाठ्यक्रम की जड़ता और तबादले के भय से मुक्त रहकर नहीं जी सकता। व्यवस्था के पास ऐसा कोई नुस्खा नहीं है कि ऐसे अध्यापक को पहचान सके, उसका महत्व समझे और उसे आज़ादी से अपना काम करने दे। राष्ट्रपति पुरस्कार तो एक रस्म है और उसके हश्र का उल्लेख हमारे मौजूदा प्रसंग में दिशाभ्रम ही पैदा करेगा।

चिन्ता का विषय यह है कि एक औसत अध्यापक बच्चों के प्रति उत्साहित होना चाहे तो प्रेरणा और रास्ता ढूंढने कहाँ जाए। अध्यापक की दृष्टि से स्कूल का यथार्थ प्रस्तुत करने वाला साहित्य हमारे यहां है नहीं।

अच्छी कही जाने वाली शैक्षिक पत्रिकाएँ भी आदर्शवादी शब्दावली और अधिकारियों की पहल के प्रचार में खोई रहती हैं। सिलसिले से बच्चों के स्कूली जीवन और कक्षायी पढ़ाई की संभावनाओं का विश्लेषण करने वाली एक किताब भी ढूंढना कठिन है।

ऐसे में गिजुभाई की पुस्तकमाला का हिन्दी में प्रकाशन एक आशातीत सुख है। यह सुख हमें श्री काशिनाथ त्रिवेदी की साधना के फलस्वरूप मिला है, वरना अभी पचास बरस और हिन्दी जगत गिजुभाई की रचनाओं से उसी प्रकार अछूता बना रहता जैसा पिछले पचास वर्षों में बना रहा। त्रिवेदी जी ने गिजुभाई के 'दिवास्वप्न' का अनुवाद भले 1931 में कर दिया था, पर हिन्दी भाषी जनता में उसका प्रचार न हो सका, न ही शिक्षक समुदाय पर उसका कोई विशेष असर हुआ। अब काशिनाथ जी ने गिजुभाई की कई अन्य पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी भाषी अध्यापकों और माता-पिताओं को दिया है। 'शिक्षक हों तो' शीर्षक यह पुस्तक इसी प्रयास का एक हिस्सा है।

सरल भाषा में शिक्षा के यथार्थ को भेदने में गिजुभाई की सानी नहीं। वे अध्यापक की लाचारी को जानते थे और व्यवस्था की क्रूरता को छिपाने की उन्हें कोई जरूरत न थी। स्कूल की मरुभूमि में बच्चे की यातना उनसे न देखी गई और यही विवशता उनके शैक्षिक प्रयासों और लेखन का स्रोत बनी। इस स्रोत में बहुत पानी है। इस पानी से शिक्षण को सींचने के लिये हमें न अपना आक्रोश भुलाने की ज़रूरत है, न व्यवस्था से समझौता करने की। यह पानी ऐसे हरेक अध्यापक को सम्बल देगा जो आज नौकरशाही से ग्रस्त स्कूली व्यवस्था और उपभोक्ता मूल्यों से ग्रस्त समाज में अपने बच्चों से बिछुड़ गया है।

बी–4/226 सफदरजंग एन्क्लेव —कृष्ण कुमार
नई दिल्ली 110029
21 अप्रैल 1988

गिजुभाई का जीवन वृत्त

1885 15 नवम्बर को जन्म, जन्म स्थान चित्तल, सौराष्ट्र
1897 प्रथम विवाह स्व. हरिबेन के साथ
1906 द्वितीय विवाह श्रीमती जड़ी बेन के साथ
1907 पूर्वी अफ्रीका प्रस्थान
1909 स्वदेश आगमन
1910 बम्बई में कानून की पढ़ाई
1913 हाई कोर्ट प्लीडर, बढ़वाण केम्प
1913 श्री नरेन्द्र भाई का जन्म
1915 श्री दक्षिणमूर्ति भवन के कानूनी सलाहकार
1916 श्री दक्षिणमूर्ति विद्यार्थी-भवन से जुड़े
1920 बाल मन्दिर की स्थापना
1922 भावनगर में तख्तेश्वर महादेव मन्दिर के समीप टेकड़ी पर बने बाल-मन्दिर भवन का उद्घाटन पूज्या कस्तूरबा गांधी के कर-कमलों से
1925 प्रथम मोंटेसरी सम्मेलन, भावनगर
1925 प्रथम अध्यापन मन्दिर स्थापित
1928 द्वितीय मोंटेसरी सम्मेलन अहमदाबाद की अध्यक्षता
1930 सत्याग्रह संग्राम में : शरणार्थी शिविरों में निवास, वानर परिषद सूरत, अक्षरज्ञान योजना प्रारम्भ
1936 श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन से मुक्त
1936 करांची में आयोजित बाल मेले के अध्यक्ष : कच्छ का प्रवास
1937 सम्मान थैली भेंट
1938 गुजरात का प्रवास–राजकोट में अन्तिम अध्यापन मन्दिर शुरू किया
1939 23 जून को बम्बई में देहावसान

सादर प्रस्तुत

इतने वर्षों तक जितना-कुछ मैंने पढ़ाया-सिखाया है, उससे कहीं अधिक सीखा है।

इसी ज्ञान में से थोड़ा-बहुत मैंने इस पुस्तक में संजोया है।

शिक्षक भाई-बहनों की सेवा में मैं यह ज्ञान सादर प्रस्तुत कर रहा हूं।

16-2-1935

—गिजुभाई

अनुक्रमणिका

: १ :

अपना दिमाग लगाओ

मैं अफ्रीका में नौकरी करता था—एक एडवोकेट-सोलिसिटर के यहाँ। उनका नाम था मि. स्टीवेंस। वे जितने भले थे उतने ही कठोर थे; जितने उदार थे उतने ही सख्त थे।

मैं हिन्दुस्तान से पढ़ कर नया-नया गया था। ऑफिस का काम मुझे नहीं के बराबर आता था। रटंत-विद्या के प्रताप से अपना स्वतंत्र दिमाग काम में लाने की आदत ही नहीं पड़ी थी। मैं बार-बार जरा-जरा-सी बातों के लिए स्टीवेंस से पूछने जाता।

मैं पूछता : 'साहब, यह तख्ता कहां टांगूं ?'

साहब कहते : 'अपना दिमाग लगाओ' (यूज योर ब्रेन)।

मैं दिमाग लगाता तो काम अच्छी तरह से होता।

मैं पूछता : 'मि. जोनसन किस होटल में रहते हैं और मुझे किस रास्ते से जाना चाहिए ?'

साहब कहते : 'अपना दिमाग लगाओ। मुझसे क्या पूछते हो ?'

साहब को काम होता तो मुझ से कहते : 'यह इतना बैंक का काम कर आओ' अथवा 'अमुक-अमुक से मिल कर अमुक-अमुक बातें तय कर आओ।'

मैं पूछता : 'कैसे साहब ? यह काम कैसे करूं ?'

साहब बोलते : 'अपना दिमाग लगाओ।'

इस तरह साहब ने मेरा दिमाग काम में लगवा लगवाकर सही ठिकाने लगाया। आज मैं अपना दिमाग स्वतः लगा सकता हूं। पर उन दिनों मेरा दिमाग चलता नहीं था, क्योंकि वह गुलाम वृत्ति का था। अपने बारे में अविश्वास अधिक था। बताया हुआ काम कर देता था, उसके अलावा कुछ नहीं आता-जाता था।

और इसका कारण? कारण यह था कि छुटपन से ही मेरा दिमाग गुलाम बन चुका था। जब मुझे जो कुछ करना हो, पूछ-पूछ कर ही करना पड़े; जब मुझे बिना-समझे बिना विचारे जो कुछ पढ़ाया, वह पढ़ना पड़े; जब मुझे जैसा कहा जाए वैसा गम्भीरता से स्वीकारना ही पड़े; जब मुझे घर या शाला में ऐसी शिक्षा मिली हो कि स्वतंत्र विचार सूझे ही नहीं; जब जहां-जहां मैं दिमाग लगा सकूं वहां-वहां मेरी बजाय पिता, माता या अध्यापक अपना दिमाग लगाते हों, तब भला मेरा दिमाग कैसे काम कर पाएगा? ऐसे में अगर स्टीवेंस के बोल सुनने पड़ें तो कैसा आश्चर्य!

इसी तरह से हम लोग बालकों को गुलाम-प्रकृति का बना डालते हैं। जब तक हम घर में या शाला में नियम और उनके पालन की व्यवस्था हमेशा अपने ही हाथ में रखेंगे और बालक जो काम करना चाहता है, वह हम से पूछ कर ही करे, ऐसा तय रखेंगे, तब तक बालक की स्वतंत्र-बुद्धि को हम नष्ट ही करेंगे।

पूछ कर काम कराने से बालक में पूछ कर ही काम करने की वृत्ति पैदा होती है। इस कारण बालक अपनी स्वतंत्र-वृत्ति को खो बैठता है। स्वतंत्र-वृत्ति से रहित बालक गुलाम होता है और गुलाम का अपना दिमाग नहीं होता। गुलाम अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करने से इन्कार करता है क्योंकि वह दिमाग को काम में लाने से डरता है। दिमाग को काम में न लाने से फिर काम में लाने का उसमें अविश्वास भर जाता है और अविश्वास के कारण पराधीनता आती है।

बालक को अनेक बातों में स्वयं-निर्णय की छूट दी जानी चाहिए; यही नहीं, अगर वह हमसे पूछ कर ही करना चाहे तो उसे रोकना चाहिए। चाहे किसी भी कारण से अगर बालक में एक बार अवलम्बन की वृत्ति आ गई तो वह स्वयं विचार करने से कांपने लगेगा। उसे तो हमें ऐसे ही वातावरण में रखना चाहिए कि वह स्व-निर्णय लेने का दायित्व समझे। अगर बालक हमसे पूछे कि 'इसका क्या करें?' तो उल्टे हमें भी उससे यही प्रश्न करना चाहिए कि 'हां इसका क्या करें?'

बालक के प्रत्येक प्रश्न के पीछे जिज्ञासा का कोई भाव होगा, ऐसा हमेशा मान कर नहीं चलना चाहिए। जो बालक स्वयं समाधान ढूंढ़ने में आलस करते हैं, या जो समाधान ढूंढ़ने की शक्ति खो बैठे हैं, उन्हें सीधे-सीधे समाधान सुझाकर हमें उनकी दुर्बलता को बढ़ाना नहीं चाहिए। इसके बजाय हमें अपनी बुद्धि लगाने से साफ इन्कार कर देना चाहिए।

हमें मि. स्टीवेंस का 'अपना दिमाग लगाओ' सूत्र याद रखना और याद दिलाना चाहिए। साथ ही जहां-जहां बालक अपना दिमाग लगा सके वहां-वहां उसके स्थान पर हमें अपना दिमाग हर्गिज नहीं लगाना चाहिए।

•

: २ :

सुवाचन

ऐसा-वैसा वाचन सुंदर नहीं लगता। जब तक वाचन के द्वारा वाचन की वस्तु में रहने वाले भाव प्रकट नहीं होते, तब तक वह वाचन निरर्थक है। इसलिए वाचन में छटा, हलक, ध्वनि-बल, स्पष्टता, शुद्धि आदि कौशलों की तथा भाव-प्रवणता, रसिकता आदि कलाओं की पूरी आवश्यकता है। जिस बालक को अर्थ समझ में जाता है वह सुंदर वाचन कर सकता है, यह सोच गलत है।

अर्थ की समझ और वस्तु में गहन रस—ये दो भिन्न बातें हैं। भले ही रसिक क्यों न हो, सुंदर वाचन में वह निष्फल सिद्ध होता है। दोनों वस्तुओं का योग ही सुवाचन-जनक है। अर्थ-युक्त तथा रस-युक्त वाचन भी तैयारी के बिना बहुधा नीरस हो जाता है। तैयारी तो प्रयत्न से सिद्ध होती है, पर भावार्द्रता तो भीतर से ही आनी चाहिए। तैयारी जितनी ही अधूरी होगी, उतनी ही भाव के प्रकट होने में कठिनाई आएगी। व्याकरण-सम्मत भाषा बोलने वाला कोई व्यक्ति अगर तुतलाए, तो जैसे कर्ण कटु लगेगा, वैसे ही बिना तैयारी का वाचन शुष्क और कटु लगेगा।

आज की शालाओं में सुवाचन सौभाग्य से ही कहीं देखने को मिलता है, इसका कारण यही है कि हमारे शिक्षक और परीक्षक वाचन को कला की दृष्टि से नहीं लेते। वाचन-कला की दृष्टि से सिखाने के लिए आदर्श-वाचन को हमारे शिक्षण-कार्य में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। अब तक के वाचन की वस्तु ज्ञान की दृष्टि से अर्थात् उससे कितना ज्ञान मिलेगा, इस एक ही दृष्टि से, पसंद की जाती रही है।

संगीत की भांति सुवाचन का अपना ही एक आनंद है। जिनके पास कान हैं वे अपने वाचन की मधुरता को समझ सकते हैं।

●

: ३ :

रंग का परिचय

बालक बचपन से ही रंग के प्रति आकर्षित होता है। मां की गोदी में बैठा बालक अपने नन्हें-नन्हें हाथ चमचमाते रंगों से बने चित्र या आकारों की तरफ फैलाता है और धीरे धीरे खुशी के मारे किलकारियां मारने लगता है। बालक की आंख और प्रकाश के बीच जरा लाल-नीले काच के टुकड़े रख कर तो देखिए, कैसा आनंदित होता है वह। अपने नन्हें से शरीर को हिला डालेगा, उछल-कूद करने लगेगा। ज्योंही हम उससे काच हटा लेंगे त्योंही उसका आनंद बंद हो जाएगा।

बालकों को फूलों के बीच रहना बहुत पसंद है। फूल इकट्ठे करने में उन्हें बहुत आनंद आता है। वे चमकीले रंगों वाले जानवरों, प्राणियों, पतंगों व जीवजन्तुओं को घंटों तलक देखते रहते हैं, उन्हें पसंद करते हैं। आकाश के बदलते रंगों को देखते वे थकते तक नहीं। गांव में निकलते हैं तो रंगीन वस्तुएं उनका सबसे पहले ध्यान खींचती हैं और उन्हें देखने के लिए वे हमें खड़े भी रखते हैं। जब वे अपने कपड़ों-लत्तों की बातें करते हैं तो पहले उनके रंगों की बात कहते हैं। दूसरी बातों का वर्णन करने से पहले रंगों की चर्चा छेड़ते हैं। रंगीन पुस्तकें, घर की चीजें, खिलौने आदि रंग की वजह से ही उन्हें प्रिय लगते हैं। वस्तुओं में वे पहले रंग और बाद में आकार देखते हैं। चित्रों को देखते वक्त बालक अक्सर उनमें रंग के अलावा कुछ भी नहीं देखते। उनको पूछने पर पता लगेगा कि उन्होंने रंग को ही चुना और देखा है, आकार को नहीं। दुकान से कुछ खरीदना होगा तो छोटे बालक रंग के कारण ही चीजों को लेने भागेंगे।

बालक में रहने वाले इस सहज स्वभाव का हमें पोषण करना चाहिए। साधारण रंगीन चीजों से लेकर उत्तम कलाकृतियों के बीच बालक को धीमे-धीमे छोड़ा जाए। जैसे-जैसे उसका रंग का परिचय बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे वह कला-संग्रहों, चित्रशालाओं आदि का लाभ व आनंद ले सकेगा।

रंग का परिचय बालक को आनंदित करेगा और साथ ही उसकी कला-दृष्टि को जगाएगा। आगे चलकर अगर वह कलाकार न बने तब भी रंग-बोध के सम्यक् विकास के कारण कला-रसिक तो बनेगा ही, उसमें कला की प्रशंसा करने की न्यूनाधिक शक्ति भी आएगी और कला की प्रशंसा करने की शक्ति प्राप्त करना कोई कम लाभ नहीं।

रंग का परिचय रंगमय वातावरण से ही दिया जा सकता है। रंगों के नाम सिखाने में या आंखों के सामने रंगों की जातियां रटाने में रंग का परिचय नहीं हैं; जो सब तरह से रंगा है वह रंगमय वातावरण के लिए योग्य है, सो भी नहीं। और जो-जो रंग-रूप की दृष्टि से स्वाभाविक एवं मनोरम हैं, वे सब रंगमय वातावरण के लिए योग्य गिने जाते हैं। भांति-भांति के निरे रंगीन टुकड़े बालक को रंगों का वास्तविक वातावरण नहीं दे सकते, क्योंकि उनमें वस्तु के साथ रंगों की जो स्वाभाविक जड़ाई या गहराई तथा छायाएं, उपछायाएं संयुक्त होनी चाहिए, वे नहीं होतीं।

रंगों का वातावरण व्यवस्थित चाहिए। हर तरह का बेढ़ंगा रंगीन चित्रों या वस्तुओं का ढेर रंग का वातावरण नहीं है। बालक की आंखों के सामने हर तरह की रंगीन वस्तुएं इस तरह से छानी चाहिए कि वे स्पष्ट रूप से उभर कर आएं। और फिर संगत-असंगत रंगों का विन्यास बराबर होगा तभी रंग का आनंददारी व संतुलित वातावरण निर्मित होगा। ऐसे वातावरण में आंखें सहज ही रंगों का परिचय प्राप्त करने लगती है।

इस ओर हमारा ध्यान जाना जरूरी है।

•

: ४ :

चुगलखोर बालक

हम देखते हैं कि कई बालक चुगलखोरी करते हैं। मां ने कोई काम करने से मना किया हो और दूसरे दो भाई वैसा करें तो तीसरा बालक मां से जा कर कह आता है कि 'वे दोनों ऐसे-वैसे कर रहे हैं।' शाला में सामान्यतया जो बातें विद्यार्थीगण अध्यापकों को सूचित करने लायक नहीं मानते हों, अगर कोई विद्यार्थी वे बातें अध्यापक से जाकर कह देता है तो उसे चुगलखोर कहा जाता है। दूसरे विद्यार्थी उसे चुगलखोर कह कर तंग करते हैं, चिढ़ाते हैं। बालक में चुगलखोरी की आदत को हम अच्छी आदत नहीं मानते, इसलिए सोचने की बात है कि ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए।

बालक तरह-तरह की प्रकृति वाले होते हैं। कई बालकों में चुगली करने की ऐसी कोई आदत होती तक नहीं, उल्टे उनमें एक तरह की न्याय-शीलता होती है। स्वभावतः वे कहीं किसी तरह का अन्याय सहन नहीं कर सकते। घर में अगर कोई बालक बेकायदा व्यवहार करता है तो न्यायशील बालक उसकी शिकायत लेकर जाता है। शिक्षक द्वारा निर्धारित नियम का अगर कोई उल्लंघन करता है तो ऐसे बालक को वह बुरा लगता है और ऐसे अवसर पर वह सत्य का हिमायती बनकर, न्याय तथा व्यवस्था का पक्षधर बनकर शिक्षक से जाकर बातें करता है। ऐसा बालक चुगलखोर नहीं होता। दूसरे बालक उसे चुगलखोर कहें तो उन्हें उनकी गलती बताई जानी चाहिए।

कई बालक स्वभाव से चुगलखोर नहीं होते, लेकिन किसी प्रसंग-विशेष में निजी स्वार्थ के कारण ऐसे बन जाते हैं। गुण-दोष में सब एक-सरीखे होने पर भी जब स्वयं पर दोष आता है तो दूसरों पर दोष मढ़ कर वे लड़ने पर उतर आते हैं। मान लीजिए कि तीन बालक घर से लड्डू चुरा कर चुपचाप खाने बैठ गए। एक जने को कम हिस्सा मिलता है तो वह अपना हिस्सा फेंक कर चुगली खाने दौड़ पड़ता है कि 'वे लोग चोरी करते हैं।' ऐसे मौके पर किसी और की गलती बताने वाला बालक ही दोषहीन है, ऐसा मानने से पहले यह बात पता लगाने की जरूरत है कि 'वे जनाब' चुगली खाने क्यों आए थे! सचाई पता लगा कर ऐसे बालक के मन में यह बात बिठाई जानी चाहिए कि उसमें स्वयं उसका ही दोष अधिक था।

खेल में या ऐसे प्रसंगों में चुगली खाने वाला बालक बहुधा खुद अकेला ही गलती पर होता है, और यह बात वह स्वयं जानता है कि दोष उसके सिर आने वाला है। अतएव अपना दोष दूसरों के माथे जाकर उंडेलने के इरादे से वह चुगली खाने दौड़ पड़ता है कि 'वे लोग ऐसे-वैसे कर रहे हैं।' पता लगाने पर बात सामने आती है कि बात तो कुछ भी नहीं थी—निराधार! ऐसे बालक को पक्का एहसास कराना जरूरी है कि उसकी ऐसी चुगली आइंदा चलेगी नहीं।

कई बालक माता-पिता व शिक्षकों के छिपे जासूस के रूप में काम करते हैं। माता-पिता 'अमुक ऐसा करता है' 'अमुक वैसा करती है'—ऐसी-ऐसी बातें बालकों से प्राप्त करते हैं और ऐसी बातें बनाने को उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। वस्तुतः ऐसा करके वे उन्हें चुगलखोर बनाती हैं। ऐसा करके माता-पिता या शिक्षक भयंकर अपराध अथवा पाप करते हैं। शिक्षक या माता-पिता इस तरह करके जिन बालकों को चुगलखोर बनाते हैं वे अपने साथियों का विश्वास खो बैठते हैं, वे हर तरह की गप्पें मार कर और खुशामद करके जीवन बिताते हैं; संक्षेप में, वे अत्यन्त अधम बन जाते हैं। अतः माता-पिता या शिक्षकों के मार्फत किसी भी तरह की कोई भी खबर-टोह प्राप्त न करें।

जब कोई बालक हमारे पास कोई खबर लेकर आता है तो उस खबर को मानने या न मानने के सम्बन्ध में बहुत गौर करना होगा। हम गलत बात पर एतबार कर लेते हैं, यह उसे पता लगते ही वह उसका दुरुपयोग करेगा। वह हमें भ्रम में डालकर अपनी मर्जी-मुताबिक हमें खींचेगा। इसी तरह जिस बालक ने पुण्य-प्रकोप से न्याय मांगने की बात कही होगी, अगर हम उसे दुत्कारेंगे तो जाहिर है हम उसका विश्वास खो बैठेंगे। यही नहीं, उस बालक में न्याय के प्रति अरुचि पैदा कर देंगे। ऐसे गलत 'टेल बियरर' को याने बातें लाने वाले को हमें प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, अपितु उससे बातचीत करके, भली-भांति जांच कर उसे वस्तुस्थिति से अवगत करा देना चाहिए।

•

: ५ :

बालक और कहानी

बालक अपनी समझ-शक्ति के परिमाण में ही कहानी को ग्रहण कर सकते हैं। समझ-शक्ति से बाहर की कोई कहानी ज्योंही उनके सुनने में आती है, त्योंही वे तत्काल वहां से खड़े होकर चलते बनते हैं। अतः यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि सामान्यतया किस क्षमता के बालक को किस तरह की कहानी सुनानी चाहिए। बालक ही कहानी कहने वालों को सही पाठ पढ़ाते हैं।

कई बार बालक नए-नए कहानी कहने वालों को निराश करते हैं। या तो उनकी कहानी बालक को बहुत कठिन लगती है या इतनी आसान लगती है कि वह सुनना नहीं चाहता। कई बार ऐसी घटना घटने पर कहानी कहने वाले के हाथ में इस बात की कुंजी आ जाती है कि कैसी कहानी कही जानी चाहिए। प्रत्येक कहानी कहने वाले को ऐसा सामान्य अनुभव रहता है।

कई बार बालक कहानी कहने वाले को धोखे में रख देते हैं। कहानी चल रही है, ऐसा मान कर वे सुनने बैठ जाते हैं। चाहे कहानी कठिन हो या आसान, मूलतः कहानी सुनने का शौक होने के कारण वे वहां से उठते तो नहीं, पर प्रकारांतर से उन्हें देखकर पता लग जाता है कि उन्हें अभी वांछित खुराक मिली नहीं। वहां बैठे रहने पर भी वे कहानी में ध्यान नहीं देते और बार-बार अपनी बातों में लग जाते हैं या आना-जाना शुरू कर देते हैं या वे दूसरों की नकलें उतारते हैं या शैतानी करते हैं। छोटे बालकों को पता तक नहीं चलता कि उन्हें कैसी कहानी पसन्द आती है। वे अपनी वांछित कहानी की मांग कर नहीं सकते। लेकिन अनचाही कहानी आते ही उनका असंतोष स्पष्ट दिखने लग जाता है।

कई बालकों को कहानी सुनाने वाले का व्यक्तित्व पसन्द आ जाता है। उन्हें उनके पास से हटना भी अच्छा नहीं लगता। पर कहानी में मजा नहीं आने से कहानी कहने वालों और अन्य श्रोताओं को उक्त प्रकार की अड़चनें तो आती ही हैं।

कई बालकों को कहानी से कुछ भी हासिल नहीं होता। उन्हें या तो कहानी कठिन लगती है या भाषा या वस्तु में रस नहीं जाता। लेकिन कहने वाले के हाव-भाव आदि में उसे नवीनता लगती है या बोलने के ढंग में विचित्रता लगती है, इसलिए बैठा रहता है। पर नवीनता का मोह कम पड़ा नहीं कि वह गड़बड़ करने लग जाता है, पर उठकर जाता भी नहीं।

इन सबका कारण यह है कि कहानी कहने वाला व्यक्ति इस बात पर गौर किये बिना कहानी शुरू कर देता है कि सुनने वाला बालक कैसा है। अगर कहानी की वस्तु, शैली और सभी कुछ बालक के स्तर को ध्यान में रखकर संतुलित व सप्रमाण रखे जाएं तो ऐसी बाधा नहीं आती।

हम बड़े हैं इसलिए बहुधा बड़ी कहानी का लोभ आ जाता है हमें। अक्सर दो-एक बुद्धिमान बालकों को ही ध्यान में रख कर कहानी कहने लगते हैं तो कई बार अत्यधिक कल्पना और उपमा आदि मिलाकर कहानी कहते हैं। इससे बालक मुंह फाड़े बस बैठा रहता है, ऊब जाता है और अंत में कहानी में सुने गए शब्द-प्रयोगों व उपमाओं का कुप्रयोग करता है।

भाषा में भी ध्यान रखना पड़ता है। वर्णन शैली सरस व सादी होनी चाहिए। वही की वही बात बड़ी उम्र के श्रोताओं को जरा उच्च भाषा में न सुनाई जाए अथवा जरा चामत्कारिक ढंग से न कही जाए तो नीरस लगती है, वही कहानी सरल व सरस भाषा में बालक तक पहुंचनी चाहिए। जो बालक भाषा व अनुभव का बिल्कुल सम्बन्ध न जोड़ सकें उनके लिए भाषा का स्तर

बहुत सोच-विचार कर व्यवहार में लाना चाहिए। अनुभव से परे की भाषा खाली शब्द-जाल बन जाती है। ऐसे शब्द-जाल में बालक सचमुच घिर जाते हैं। अर्थ-विहीन शब्द भंडार को बढ़ाने में भी ऐसा ही जोखिम रहता है, क्योंकि आगे चलकर बालक शब्द के अर्थ को लेकर लापरवाह हो जाता है। कहानी की वस्तु और भाषा दोनों बालकों की दुनिया के होने चाहिए याने दोनों चीजें बालकों की निरी आंखों से दिखाई भी दें और समझ में भी आए, ऐसी हो। असमय ही बालकों के लिए उच्च भाषा का प्रयोग हानिकारक होता है। फिर वे अपने स्तर की भाषा का वास्तविक आनन्द नहीं ले सकते; उच्च भाषा का अजीर्ण होगा सो अलग, अत: दोनों तरह से बालक को भाषा-ज्ञान में नुकसान झेलना पड़ेगा।

●

: ६ :

वैयक्तिक विकास

प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिए जीवन भर संघर्ष करता है। विकास का ध्येय है अपनी पूर्णता—अपना परिचय। प्रतिक्षण बालक पूर्णता की तरफ बढ़ता है। जितना-जितना वह पूरी तरह से स्वानुभवी बनता जाता है, उतना-उतना व्यक्तिगत न रह कर समष्टिगत बनता जाता है। उसी परिणाम में वह समतावादी और समभावी बन जाता है, उतने ही परिमाण में मुक्त भी बन जाता है।

वैयक्तिक विकास में पहला और महत्त्व का कदम है 'स्व' एवं 'पर' के बीच अंतर की अच्छी समझ का। इस समझ को सुदृढ़ बनाने के लिए बालक स्वयं को तथा स्वयं से संबंधित वस्तु को दूसरों से अलग करना मांगता है; मेरे और तेरे के बीच स्पष्ट फर्क कर लेता है; अपनी चीज दूसरों को देता नहीं, स्वार्थी व संकीर्ण नजर आता है; सिर्फ अपने 'व्यक्ति' का ही पोषण करता है और 'स्व' के पोषण में 'पर' को भूल जाता है। लेकिन इसी प्रक्रिया से उसे अपने 'स्व' की पहचान हो जाती है और उसके परिणाम स्वरूप वह दूसरों के व्यक्तित्व को भी पहचानने लगता है। वह दूसरे व्यक्ति को, उसकी मिल्कियत को मान देने लगता है। वह दूसरों से छीनता नहीं। वह दूसरों के आकर्षण का मोल समझता है। अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने की मांग करता है। अपने मंतव्य जितनी ही कीमत वह दूसरों के मंतव्य की आंक सकता है। अपनी वजह से वह दूसरों की भावनाओं के बारे में सोच सकता है। संक्षेप में, वह अपने 'व्यक्ति' को भी समझता है, और फलत: अपने जैसे ही दूसरे व्यक्तियों को भी समझना सीखता है।

यह सब व्यक्ति-विकास का फल है। सच्चे व्यक्ति-विकास में सच्चा सामाजिक जीवन विद्यमान रहता है। मात्र साथ रहने, खाने-पीने, या सामाजिक नियमों के पालन में सच्चा सामाजिक जीवन नहीं है।

वर्तमान समाज अपूर्ण है, आधा-अधूरा है अथवा नितांत ओछा है या नितांत अविकसित व्यक्तियों का समूह होने के कारण भयंकर है। तभी तो उस पर बाहर से नियम लादे जाते हैं। तभी तो आज समाजशास्त्र के प्रश्न विकट बनते जा रहे हैं। वैयक्तिक जीवन-विकास साधने की स्वतंत्रता न मिलने के कारण हम समष्टिगत जीवन के अयोग्य रहे हैं। प्रत्येक वाद्य-यन्त्र बराबर मिला हो तो चाहे जितने वाद्य-यन्त्रों को साथ बजाएं, बेसुरे नहीं लगते, उसी तरह से अगर प्रत्येक व्यक्ति का समुचित विकास हो जाए तो उनका समूह सुरीला लगेगा, सुन्दर ढंग से मिश्रित लगेगा। अतएव सामाजिक जीवन की संयमितता व्यक्ति की संयम-शक्ति पर निर्भर है। सामाजिक जीवन की शुद्धि भी व्यक्ति की पवित्रता पर ही आश्रित है।

वैयक्तिक विकास की शुरुआत बाल्यावस्था से ही होनी चाहिए। प्रारंभिक स्थिति में बालक सभी कुछ अपना बना कर बैठते हैं। यह स्वाभाविक है, होना भी चाहिए। लेकिन इस तथ्य का महत्त्व न जानने वाला व्यक्ति बालक को घटिया व स्वार्थी कह कर उसकी निंदा करता है। मात-पिता, अध्यापक, और धर्माभिमानी लोग उसे परोपकारी, उदार आदि बनने का उपदेश देते हैं और कभी-कभार यह उसका कर्त्तव्य ठहरा देते हैं! लेकिन यह गलत है। ऐसा करके व्यक्ति को विकसित होने देने की बजाय उसे तोड़ा जाता है। मैं, मेरा, ममत्व आदि ही सब, समष्टिगत, निर्ममत्व की बुनियाद है। जो बलवान नहीं होगा, वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकेगा? जो अलग रख पाना नहीं जानता, वह साथ रखने का महत्त्व कैसे समझ सकेगा? जो अपनी जरूरतों का सम्मान नहीं करा सकता, वह दूसरों की जरूरतों का कैसे सम्मान करेगा? इस तरह व्यक्तित्व की पहचान में समूहगत जीवन का बल है!

उक्त वैयक्तिक विकास में आवश्यक ऐसे स्वार्थ तथा व्यापारिक स्वार्थ के बीच बड़ा फर्क है। एक पोषक है, दूसरा विधातक; एक विकसित व्यक्ति का प्रदर्शन है, दूसरा अविकसित व्यक्ति का परिणाम; एक उत्कर्ष के मार्ग पर है, दूसरा पतन की ओर जाते मनुष्य का स्वभाव है। बेशक, बालक के उक्त विकासक स्वार्थ में विकारी स्वार्थ आ जाया करता है, पर वह स्वार्थी समाज की ओर से भेंट मिली होती है उसे। हमें दोनों प्रकार के स्वार्थों को पहचान कर अलग-अलग करने की जरूरत है इन्हें। एक देने योग्य है, दूसरा दूर रखने योग्य।

अनावश्यक वस्तुएं एकत्रित करने का हमारा रोजमर्रा का स्वभाव होता है, इस कारण से, अथवा दूसरों के पास जो है सो मेरे पास भी होना चाहिए, इस आदत के कारण बालक जब तरह-तरह की पेंसिलें या इसी तरह की चीजें इकट्ठी करता है तो ऐसा स्वार्थ दूर हटाया जाना चाहिए। जब परिग्रह निरर्थक है तो उसका पोषण नहीं करना चाहिए। जब तक बालक यह नहीं जान पाता कि उसे किस चीज का अभाव है, याने जब तक वह यह नहीं जानेगा कि अपने वैयक्तिक विकास के लिए उसे सचमुच किस चीज की जरूरत है, तब तक वह ऐसा वजन रखता है। ऐसी स्थिति से उसे आगे ले जाना चाहिए। घर या शाला में जहां बालक ऐसा निष्प्रयोजन परिग्रह करे तो शिक्षक को उसे सप्रयोजन परिग्रह की ओर ले जाना चाहिए। उसे उसकी वास्तविक गलती का पता लगाने की ओर ले जाना चाहिए। इसके लिए हमें उसकी इन्द्रियाँ तथा मानसिक शक्तियाँ विकसित करने के प्रयत्न करने होंगे। जो पत्थर और सोने का अंतर जानता है वह सोना समझ कर पत्थर को नहीं उठाएगा, और न बहरा वाद्य यंत्र खरीदेगा या रखेगा। जिस क्षण बालक की इन्द्रियों का समुचित विकास हो जाएगा, उसी क्षण से वह जानने लगेगा कि निरर्थक क्या है और सार्थक क्या है! उदाहरण के लिए, उस समय वह आवश्यक रंगों की पेंसिलें ही रखेगा, अनावश्यक इकट्ठी पेंसिलें तत्काल छोड़ देगा। उपयोगी परिग्रह ही करेगा। कहने का भाव यह कि विकासक

स्वार्थीपना पोषणीय है, जबकि विकारी स्वार्थ से बालक को हमें हटाना होगा।

स्वार्थ वृत्ति वैयक्तिक विकास का एक साधन मात्र है। जब तक तरह-तरह के माध्यमों से बालक को अपना व्यक्तित्व गढ़ना होता है, तभी तक वह उन सब माध्यमों में रुचि व रस लेता है। जिन-जिन विषयों द्वारा बालक अपने व्यक्तित्व को गढ़ कर आगे बढ़ जाता है, उनसे गुजरने के बाद उन्हें पीछे छोड़ता जाता है। वांछित पोषण मिला नहीं कि उन माध्यमों को फेंका नहीं। शक्ति अर्जित कर लेने के बाद मनुष्य स्वतः ही उन शक्ति देने वाले माध्यमों से ऊपर चला जाता है। साधनों में इतनी ताकत नहीं होती कि उसे रोक कर रख लें। इससे स्वतः ही उसके साथ का संबंध टूट जाता है। इसी तरह मनुष्य नीचे से ऊपर उठता जाता है अथवा बंधनों से मुक्त होता जाता है। बालक इसी तरह शिक्षण के साधनों को प्रयोग में ला कर उनसे समृद्ध बनता है और उन्हें छोड़ कर ऊपर उठता जाता है। साधनों से होकर गुजरना भी मार्ग का एक कदम है। परिग्रह भी इसी बात का सूचक है। वैयक्तिक विकास के मार्ग में परिग्रह का अर्थ है, उसका मूल्य है; पर अंत में तो उससे मुक्त होना ही हमारा ध्येय होता है। बालक गट्टों का या रंग की पेटी का प्रयोग करते ही रहें और ये साधन उन्हें साध्य की तरफ—इन्द्रियों के विकास की तरफ ले ही न जाएं तो उनमें शैक्षिक मूल्य नहीं हैं। यह विकासक परिग्रह नहीं है। साधनों से शक्ति मिलने पर ही बालक साधनों की कीमत समझता है और फिर उनका मोह भी छूट जाता है। चित्रकला हाथ में आ जाने के पश्चात् बालक को पता चलता है कि कागज या पेंसिल में कला नहीं है, वह तो उसमें स्वयं में है। उसे पता चलता है कि उसकी अपनी शक्तियां ही मूल्यवान हैं, इनका विकास ही वास्तविक बात है। सच्चा महत्त्व शक्ति को विकसित करने का है, विकासक साधनों को अपने पास रखने का नहीं। साधन व साध्य का भेद बालक धीमे-धीमे अपने-आप समझता जाएगा, वैसे-वैसे ही वह नीचे से ऊपर उठता जाएगा, वैसे ही

उसका वैयक्तिक विकास अधिक होगा, वैसे ही वह सामूहिक जीवन व्यतीत करने में अधिक योग्य बनता जाएगा।

बालक जब अपना सच्चा वैयक्तिक विकास करेंगे तभी साधनों का मूल्य समझेंगे और तभी उनको अपने पास रखने का आग्रह छोड़ते जाएंगे; लेकिन वे चिंता करेंगे तो सिर्फ इसी बात की कि वे साधन उन्हें कैसे उपलब्ध हों। अगर होगा तो उन साधनों को वे व्यक्तिगत उपाधि या जोखिम मान कर अपने साथ रखने के बदले उन्हें सामूहिक सम्पत्ति के बतौर रखना अधिक पसंद करेंगे। सामूहिक सम्पत्ति रहने देने में बालक कोई आपत्ति नहीं मानेगा। उनका मूल्य जानने के कारण वह उनका दुरुपयोग न होने देगा, न उनकी उपेक्षा होने देगा। अतः बालक जहां-जहां स्वयं परिग्रह के लिए उत्कंठित हो, वहां-वहां सिर्फ यही देखना है कि वह परिग्रह साधन रूपी है या नहीं। साधन रूपी परिग्रह के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए, दूसरी तरह के लिए व्यवस्था करने जरूरत नहीं। संक्षेप में, परिग्रह व्यक्ति-विकासक होना चाहिए।

●

: ७ :

मना करने की निडरता

कुछ बालक इतने निडर देखने में आते हैं कि अगर हम उनसे पूछें : 'संगीत में आओगे ?' तो जवाब देंगे : 'नहीं।' अगर पूछें : 'चित्र बनाओगे ?' तो कहेंगे : 'नहीं।' : 'अक्षर लिखोगे ?' 'नहीं।' 'बंगले ?', 'कहानी ?' : 'नहीं।'

ऐसे बालक 'ना' क्यों कहते हैं, क्योंकि इनका कारण उनके पास होता नहीं। 'ना' के सिवा कोई अन्य कारण उनके पास होता तक नहीं। 'ना' कहने की उनमें कुटेब पड़ जाती है।

संगीत पसंद न हो और 'ना' कहें तो ठीक, चित्र बनाना पसंद न हो और 'ना' कहें तो चलेगा। लेकिन क्या पसंद है और क्या पसंद नहीं, इसका पता ही न चले और मना करते जाएं, तो उसका क्या करें ?

अगर हम उनकी 'ना' को चलने दें और वे जो न करने को कहें, वह उनसे न कराएं तो क्या इसे उचित कहा जाएगा ? ऐसा करने देने में क्या उन्हें स्वतंत्रता दी गई, ऐसा दिखेगा ? अथवा उनकी 'ना' को अनसुना करके जिस काम के लिए वे 'ना' कहें, वह काम उनसे जबरन कराएं तो क्या यह समझा जाएगा कि उनकी स्वतंत्रता छीनी गई ?

कई बार बालक इस तरह के भी होते हैं जिन्हें हम बिगड़े हुए (स्पोइल्ट) कहा करते हैं। कोई चीज किसी व्यक्ति को पसंद न आए तो बालक सचमुच 'ना' कह देते हैं, लेकिन उसके बाद तो वे 'ना' कहने के रास्ते पर ऐसे चढ़ जाते हैं कि इसके कारण उनमें इन्कार करने की बुरी आदत पड़ जाती है। कई बार दूसरों को 'ना' बोलते देख कर वे उनका अनुकरण करते हैं। वे समझते भी नहीं कि दूसरे बालक 'ना' क्यों बोल रहे हैं। कई बार कुछेक बालकों को इन्कार करने का ऐसा अनुभव हो जाता है, कि उसके बाद तो वे अपने उस अनुभव को सर्वत्र आरोपित करते और जहां-जहां 'ना' बोलते रहते हैं।

कई बालकों की ऐसी धारणा ही बन जाती है कि उनसे कुछ नहीं हो सकता। किसी बात के लिए 'हां' बोलना, याने बहुत बड़ी जानकारी और ज्ञान की जरूरत ! अपने प्रति उनमें इतना अधिक अविश्वास होता है कि 'ना' बोलकर छूट जाते हैं। 'ना' बोलने के पीछे उनका यह आशय नहीं होता कि आज्ञा नहीं मानी जाए, बल्कि वे अपनी असमर्थता को बताना नहीं चाहते। इसलिए इन्कार करके खड़े रह जाते हैं।

कइयों को 'ना' और 'हां' के परिणाम का पता नहीं होता। 'हां' कहने से क्या होगा, इसका निश्चित पता न होने के कारण उन्हें 'ना' की शरण लेना ठीक लगता है।

कइयों को 'हां' या 'ना' के अर्थ का भी पता नहीं होता। पर ऐसे बच्चे सबसे छोटी कक्षा के होते हैं, नन्हें।

बड़े आदमियों में भी यही बात देखने में आती है। वे कहते हैं कि 'बस अमुक चीज तो मुझे आती ही नहीं; यह तो मैं हर्गिज नहीं खाऊं !' हम जरा उनसे पूछें : 'किसी रोज खाकर भी देखी है ?' तो जवाब देंगे : 'पर भाती नहीं है, तो क्या करूं ? 'हम कहेंगे : 'एक बार खाकर तो देख लो।' तो कहेंगे : भाएगी नहीं, तो ?'

इस तरह के मना करने वालों को सही रास्ते लाया जा सकता है। मना करने के पीछे खास तौर से जो कारण हो, उसे ढूंढ निकालना है। जो देखा-देखी इन्कार करते हैं उन्हें 'हां' के वातावरण में रखना होगा। अशक्ति के कारण जो मना करें उन्हें ऐसे काम सौंपे जाएं, जो उनसे हो सकें। ऐसा निर्णय करके ही काम सौंपने की 'हां' लेनी चाहिए। जिनका आत्मविश्वास समाप्त हो गया हो, उनको ऐसे काम सौंपे जाएं कि जिससे उन्हें लगे कि

वस्तुतः मना करने का तो कोई कारण ही नहीं था। उन्हें यह भरोसा दिलाना होगा कि 'ना' कहना उनकी भूल थी। अगर मना करने के पीछे मास्टरजी का भय, असफलता की चिंता या उपहास जैसा कोई विचार हो तो उन्हें विश्वास दिलाना होगा कि वह सब नहीं होगा। ऐसा विश्वास तो उन्हें दूसरों के उदाहरण से ही, याने उचित वातावरण में रख कर ही दिया जा सकता है।

लेकिन इनके बावजूद अनेक बालक जल-कमलवत रहते हैं। उनकी निडरता उग्र होती है। उन्हें 'हां' कहने में भी जैसे शर्म लगती है।

हमारा काम बालक से 'हां' कहलवाना नहीं है। बालक 'हां' भी कह सकता है और 'ना' भी। आज्ञा मान भी ले, और न भी माने। लेकिन वह सब सकारण हो तभी चले। अगर बालक जबरन आज्ञा मानता है तो उसका कोई नैतिक मूल्य नहीं, यही नहीं, अपितु ऐसा करने से नैतिक अधःपतन होता है। फिर जबरन 'हां' कहलवाने से हम बालक को स्वमताग्रही बनने के मार्ग पर ले जाते हैं।

यह बात ध्यान में रखते हुए शुरुआत में ऊपर वर्णित बालकों पर 'हां' का प्रयोग करने की जरूरत है। प्रयोग करने पर पता लग जाएगा कि 'ना' करने का वास्तविक कारण क्या है; 'ना' की 'हां' कहलवाने की जरूरत थी या नहीं, अथवा उसकी 'ना' ही उसे मुबारक रहने देनी इष्ट है या नहीं, आदि-आदि।

स्वाद चखे बिना ही इन्कार करने वाले बालक को एक बार आग्रहपूर्वक स्वाद चखाएंगे तो वह आश्चर्यचकित हो जाएगा, सोच में पड़ जाएगा और यह प्रश्न वह अपने आपको पूछेगा कि अब तक वह किस कारण से 'ना' बोल रहा था। परन्तु अगर उसको वह पकवान भाता ही न हो और स्वाद चखने के बावजूद उसे न रुचे तो हम भी जान सकेंगे कि उसे अमुक चीज नहीं भाती। संगीत में न आने वाले बालक को संगीत का स्वाद चखाते ही अगर वह नींद

लेने लगे तो उसके पीछे अकेली निडरता नहीं थी अपितु संगीत के प्रति अरुचि थी, यही समझना चाहिए।

कितने ही अति नाजुक वृत्ति वाले बालकों को पहले ही स्वाद में उल्टी जैसा लगेगा, उल्टी हो भी जाएगी। लेकिन अगर यह सब बाहरी आवरण मात्र होगा तो थोड़े ही समय में उसके प्रति वह अभिमुख हो जाएगा; यही नहीं, उसमें अपनी निपुणता भी बताएगा।

कितने ही बालकों में क्रियाशक्ति संस्कारित ही नहीं होती। उन्हें कुछ करना या न करना दोनों कठिन लगते हैं। इस कारण वे प्रत्येक काम करने से इन्कार कर देते हैं। ऐसे बालकों से ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए कि अमुक काम ही कराना है, परंतु उनकी क्रियाशक्ति का बल बढ़े, इसके लिए जिससे मुख्यतः क्रियाशक्ति का प्रयोग होने लगे, ऐसी कोई मनपसंद क्रिया करने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। जब उनमें क्रियाशक्ति आ जाएगी तो वे प्रत्येक काम करने लग जाएंगे।

अनेक बालक ऐसे होते हैं कि जो 'हां' या 'ना' बोलने में तुलनात्मक निर्णय ही नहीं कर सकते। उनसे 'हां' कहलवाने की जरूरत नहीं। उन्हें ऐसे कार्यों की ओर ले जाना चाहिए कि जिससे उनकी बौद्धिक-शक्ति का विकास हो। बौद्धिक-शक्ति बलवान होते ही वे स्वतः निश्चय कर लेंगे, तथा पहले निश्चय न कर पाने के कारण इन्कार कर बैठते थे, उसके बदले सोच-विचार कर 'हां' या 'ना' कहेंगे।

अब रहा ऐसे बालकों का प्रश्न, जिन्हें मना करने में ही मजा आता है। वे सब कुछ जानते हैं, कर भी सकते हैं, फिर भी इन्कार करने में एक तरह की अपनी होशियारी या शक्ति मानते हैं और इन्कार करके भाग छूटते हैं तथा स्वयं अपने मन में और दूसरों के सामने इसका बखान करते हैं। ऐसे बालक सचमुच बिगड़े हुए कहलाते हैं। ऐसे बालकों से तो 'हां' कहलवाना ही एकमात्र उपाय है। ऐसे बालकों की 'ना' नहीं चलनी चाहिए। 'हां' कहलवाने में उनकी

आजादी नहीं छिनेगी। भले ही वे मना करें, लेकिन उनसे उपयोगी व उत्कर्ष-शील कार्य कराये जाने चाहिए। जब एक बार उन्हें भरोसा हो जाएगा कि अब मनाही नहीं चलेगी तो वे 'हां' भरने लगेंगे, काम करेंगे और अब तलक इन्कार करने के कारण जो स्वस्थ काम का आनंद या मजा नहीं लिया, उसका अनुभव लेंगे। जैसे-जैसे उनका काम का आनंद, ज्ञान की खुशी और विकास का अनुभव बढ़ता जाए, वैसे-वैसे हमें उन पर दबाव कम करते जाना है। इस तरह थोड़े समय तक दबाव की दवा पिलाने के पश्चात उन्हें निरोग खुराक ही देनी शेष रहेगी।

•

: ८ :

बालकों के साथ बातचीत

बालक बालमंदिर में आते हैं, संगीत में बैठते हैं, मोंटेसरी के उपकरणों पर काम करते हैं, विभिन्न खेल खेलते हैं, कहानी-लोकगीत व आदर्श वाचन सुनते हैं, नाटक देखते हैं, नास्ता लेते हैं और घर लौट जाते हैं; काम अच्छी तरह से चलता है और बालक आगे बढ़ते हैं। लेकिन अगर इनमें एक काम रह गया होता तो इतने सारे काम होने के साथ एक महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो पाया, ऐसा कहा जा सकता है। यह एक काम है बालकों के साथ हमारी बातचीत।

बालक अंदर ही अंदर बातचीत करके अपनी अनेक भांति की जरूरतें तृप्त कर लेते हैं; एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर आपसी लाभ उठाते हैं, पर इसके अलावा उन्हें हमारे प्रत्यक्ष परिचय की, हमारे साथ बातचीत करने की भी जरूरत पड़ती है। बड़े के पास बैठकर अपनी छोटी-छोटी बातें सुनाना उन्हें पसंद आता है।

उनमें अपने संबंध में दूसरों को बातें बताने की एक स्वाभाविक वृत्ति है। इसी के द्वारा बालकों को यह संतोष व आनंद मिलता है कि दूसरों के बीच उनकी भी कोई गिनती है। अपने निजी आनंद में दूसरों को सहभागी बनाने की मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति के कारण बालक स्वयं जो आनंद अनुभव करते हैं उनकी तरह-तरह की बातें बड़ों को सुनाने के लिए वे उनके पास दौड़े जाते हैं। पसंद न आने वाली बातें दूसरों को बताने से आराम मिलता है, मन में भरी हुई बातों को स्वजनों के सामने व्यक्त कर देने से दिल हल्का होता है।

पराये लोग अपने हैं तभी तो अपनी बात सुनते हैं, इस विचार में एक तरह की शांति है। ये सब बातें बड़े या छोटे बातचीत के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। दूसरों के संबंध में अपनी राय, तरफदारी या विरोध बातचीत के द्वारा ही प्रकट किये जा सकते हैं। ऐसे-ऐसे कारणों से बालक घर में बड़ों के साथ, बड़े भाई-बंधुओं के साथ बातचीत करने को स्वत: प्रेरित होते हैं। शाला में या घर-बाहर भी वे बातचीत करने का अवकाश ढूंढ़ते रहते हैं।

जिस प्रकार से बालकों को अपने विकास के निमित्त बातचीत करने की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार हमें भी शैक्षिक दृष्टि से उनका अध्ययन करने के लिए उनसे बातचीत करने की जरूरत पड़ती है। जरूरत भिन्न भिन्न दृष्टि से है, फिर भी दोनों के लिए एक ही व्यापार स्वीकारने की आवश्यकता है। हमारा स्वतंत्र विद्यालय एक प्रयोगशाला है। बालक का अवलोकन करना उसका प्रमुख व्यवसाय है। संगीत, खेल आदि प्रवृत्तियों के द्वारा एक तरह का अवलोकन होता है, बातचीत अवलोकन का एक विशेष साधन है। इसका बहुत मूल्य है। बालक बातचीत में जब खुलते हैं तो अपने व्यक्ति को पूर्णतः प्रकट करते हैं। बातचीत के द्वारा हमें बालक की पसंद-नापसंद का पता लगता है, उनसे हम उनकी भांति-भांति की प्रवृत्तियों के हेतुओं को जान सकते हैं। बालक के मित्र-अमित्र कौन हैं और किन कारणों से हैं, किनके बिना उनका काम चलता नहीं, कौन उनका सच्चा मार्गदर्शक है, और कौन किसके कितना अधीन है और अपने अधीन है, ये सारी बातें बातचीत के द्वारा ही जानी जा सकती हैं। आज वह घर के कैसे वातावरण से आया है, भीतर से प्रसन्न है या अप्रसन्न, आदि बातें भी जानी जा सकती हैं। अलग-अलग लोगों के प्रति उसकी भावना, वस्तु के प्रति चाह व समझ, अलग-अलग घटनाओं का उसके मन में कैसा अर्थ है, अलग-अलग प्रसंगों की उसके मन पर कैसी छाप पड़ी हुई है, उसकी सत्य असत्य की, पाप-पुण्य की कल्पना कैसी है, ये सब बातें बातचीत के द्वारा ही हमारे हाथ लगती हैं।

बातचीत से एक दूसरा लाभ भी है। सामान्यतया बालक बड़ों से डरते हैं, बड़ों ने भी अपने से उन्हें डराया होगा। पिता से डरने वाला बालक घर से बाहर आते ही मास्टर, पुलिस या पिता जैसे लगने वाले व्यक्ति से डरते हैं। इसी से स्वतंत्र वातावरण में भी बालक शिक्षक से डरता देखने में आता है। वह उससे विश्वास नहीं करता, उससे दूर भागता है, उससे अपनी जरूरत की चीज मांगने में संकोच करता है। बातचीत का प्रसंग ऐसा है कि बालक धीरे-धीरे ये सब बातें छोड़ता जाता है।

कई बालक मूलत: शर्मीले होते हैं। दूसरों से कम बोलना या न बोलना ये उनकी विशेषताएं होती हैं। जहां सब बालक शिक्षकों के साथ बातचीत करते देखने में आते हैं वहां ऐसे बालक व्याकुल-से एक कोने में जा बैठते हैं। जब शिक्षक बालकों की भोली भाली बातों को 'हां' 'हूं' करके प्रेमपूर्वक, मधुर-स्वाभाविक हास्य के साथ सुनता है, तो बाल हृदय के कपाट खुल जाते हैं, उसका अंत: प्रवाह शिक्षक पर ढुलकने लगता है और शिक्षक के कानों व हृदय को भर कर उसे खुश कर देता है। बालक शिक्षक की आंखों से आंखें पिरो कर तथा प्राणों से प्राण मिलाकर अपनी गुप्त और जाहिर, मूर्खता की और बुद्धिमानी की, सही और गलत करने की, चोरी और साहूकारी की, मां की और पिता की सारी की सारी बातें कह देता है। उससे कहे बिना रहा नहीं जाता। इससे शिक्षक का काम सरल बन जाता है। बालक उसके नजदीक आते ही अधिक से अधिक अभिमुख बन जाता है, शिक्षक जो कुछ भी करता है वह उसे प्रिय लगता है, उसे अपने हृदय में कहीं गहरे ऐसा आभास होने लगता है कि शिक्षक जो कुछ करता है उसके भले के लिए करता है।

बातचीत के द्वारा शिक्षक बालक के दिल की गहराई में जा सकता है, साथ ही साथ बालक की भाषायी कमियों तथा उसकी असंस्कारिता आदि को भी जान सकता है। रोजाना बातचीत करने की आदत डालने से बालक का भाषा परिचय बढ़ता है, विचारों को संजोने एवं व्यक्त करने की विधि पुष्ट बनती जाती है तथा साथ-साथ भाषा के प्रयोग के द्वारा संस्कारी जीवन को

तथा रसिक एवं सभ्य वृत्ति को कैसे प्रकट किया जाए इसकी तैयारी भी होती जाती है।

फिर बातचीत का सामूहिक प्रसंग एकाकी बालकों को सामूहिक जीवन सुलभ कराता है। समूह के बीच बातचीत करते समय बालक को अपनी बात फटाफट कह डालने की जल्दबाज-आदत पर नियंत्रण करना पड़ता है। वह सभ्य शब्दों का व्यवहार करना सीखता है। वह इसी भावना से दूसरों की बातें सुनता है और उनमें बाधा नहीं डालता कि लोग उसकी बात को भी इसी भावना से सुनें तो बेहतर रहे। बातचीत के विषयों का उसका क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, साथ ही बातचीत के द्वारा अवलोकन तथा अनुभव के क्षेत्र भी उघड़ते जाते हैं।

इस तरह बातचीत से अनेक लाभ होते हैं। सुव्यवस्थित बातचीत के परिणाम स्वरूप अभिमुखता और अनुशासन-व्यवस्था के अनेक प्रश्नों का समाधान होता जाता है। दिन भर में ऐसा एकाध मौका आना ही चाहिए। किंडरगार्टन शाला में इसे 'वार्तालाप मण्डल' कहा जाता है। डॉ. मांटेसरी ने भी इसका समर्थन किया है। हमारा अपना अनुभव भी इसकी आवश्यकता को स्वीकारता है।

बातचीत करने वाला शिक्षक कैसी बातचीत चलाये, यह भी जान लेना चाहिए। बालकों ने क्या खाया, क्या पीया, घर में क्या-क्या खेल खेले, किन-किन दोस्तों से कैसी-कैसी बातें कीं, घर में कैसे मन रमा आदि बातें शिक्षक को करनी चाहिए। इसके बाद में बालक के शरीर एवं कपड़ों की साफ-सफाई, मंदिरों, चीजों को संभाल कर रखना, व्यवस्था, स्वच्छता आदि बातें चले। मंदिरों में क्या अच्छा लगता है क्या नहीं लगता, नई चीजें क्या-क्या चाहिए और क्या-क्या नहीं चाहिए—इस संबंध में बातचीत होनी चाहिए। कोई दुर्घटना घट जाए तो बातचीत चले। चाही-अनचाही घटनाएं घटने पर बातचीत का अवसर निकल जाना चाहिए। त्योहारों के दिन, उनसे अगले दिन पिछले दिन, ग्रहण आदि के बारे में भी बातें की जा सकती हैं। सर्दी के मौसम

में कड़कड़ाती ठंड की, गर्मी में जलाने वाली धूप की, वसंत ऋतु में पक्षियों के चहचहाहट की और नव पल्लवित वनस्पति की, पतझड़ में झड़े हुए पत्तों की, वर्षाकाल में नए-नए जीवों, मेढ़कों, पतंगों, आदि-अदि की बातें की जानी चाहिए। ये बातें फकत बातें ही नहीं होनी चाहिए, न इनमें बड़े पांडित्य और पाठ का उपदेश या व्याख्याता वाली गंभीरता होनी चाहिए। पर हाँ, इनमें प्रकृति का थोड़ा बहुत परिचय तथा वैज्ञानिक ज्ञान की थोड़ी-बहुत तराश होनी चाहिए, भाषा का अच्छा परिचय तो हो ही। चतुर शिक्षक को ऐसे अवसर पर पढ़ाने का लोभ नहीं करना चाहिए। बेशक, वह ज्ञान के बहुविध मार्गों को उघाड़ सकता है।

बातचीत में शिक्षक बनावटी न बने। बातचीत के बनावटी अवसर न शोधे। सहज ही जो प्रसंग आ जाए उसका लाभ उठा ले। यह मान कर न चले कि रोज बातचीत चलानी ही है। हर वक्त बालकों की बातचीत को प्रोत्साहित करे। बालकों की ही बातें अधिक हों, हमारी बातें तो जरूरत के मुताबिक हों। कहीं अध्यापक बालकों को बातूनी न बना दें। उसे यही देखना है कि बातचीत के द्वारा प्राप्त ज्ञान को बालक गले उतारना सीख गया या नहीं। बनावटी प्रोत्साहन देने की जरूरत नहीं है। इस बात का खास ध्यान रखा जाए कि बातचीत का प्रसंग कहीं घर की शिकवे-शिकायतें न बन जाए। इन्हें लेकर लड़कों को उकसने का मौका न मिले क्योंकि बालकों में परस्पर शिकायतें करने की आदत होती है। कहीं बातचीत का यह स्थल इनके पोषण का स्थल न बन जाये और हां, न्यायालय भी न बने। माता-पिता के बारे में बालक ज्यादा बातें करे या घर की गहरी बातें करे तो उनको प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। बालक अपनी ही बातें करें और हम उनका ही अध्ययन करें। उससे सारांश निकाल कर हमें बालकों व उनके माता-पिता के लिए कोई रास्ता सुझाना चाहिए। जहां बालकों के सामने हमें अपना अभिप्राय प्रकट करना जरूरी न हो, वहां नहीं करना चाहिए। यह ध्यान रहे कि बातचीत में बालकों की रंच मात्र भी निंदा या स्तुति न की जाए। संक्षेप में, उक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बातचीत की जानी चाहिए।

●

: ९ :

बालक के अंगों की स्वच्छता

कपड़ों आदि की स्वच्छता आवश्यक है पर अधिकांशतः वह बाहरी स्वच्छता ही कही जाएगी। धीरे-धीरे हम बालक का ध्यान नख, कान, बाल तथा दांतों की सफाई की ओर खींचते रहें। हमें यह बताना चाहिए कि हाथ वगैरह साफ-सुथरे कैसे रखें। बार-बार वे ऐसा करते रहें–ऐसे प्रयत्न हमें करते रहना चाहिए। हमें उनमें ऐसी आदत डालनी होगी कि वे स्वच्छ रहे बिना रह ही न सकें और इसके लिए घर में साधन-सामग्री रखें–उदाहरण के लिए, टुवाल, साबुन, पांवदान, काच, कंघा वगैरह। ये उपकरण अपने आप में बहुत स्वच्छ हों और स्वच्छता के कारण ही आकर्षक हों। पेशाब करने या शौच जाने की जगहें भी तय होनी चाहिए और इस संबंध में बालकों की अच्छी आदतें डालने का हमें आग्रह रखना चाहिए। जूते खोलने, कचरा डालने या कागज फेंकने की बुरी आदतों को भी व्यवस्थित करना चाहिए। हाथ और नाक की स्वच्छता को हमें बढ़ाना होगा जिससे कि बालक नाक या मुंह में उंगली न डाले तथा जहां-तहां न थूके।

अनेक बालकों की गुप्तांगों को मसलने की आदत पड़ जाती है। यह आदत देखादेखी बढ़ती है। कई बालक दूसरों को अपनी आदतों में शामिल कर लेते हैं। इससे उन्हें बचाना चाहिए। गली के बिगड़े हुए बालकों को पहचान कर हमें उन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अनुकरण से बालक बिगड़ न जाएं, इसलिए उन्हें चड्डी पहनाये रखना चाहिए। बिगड़ैल बालकों को नजरों के सामने रखना चाहिए। संक्षेप में, शारीरिक स्वच्छता को बढ़ाया जाना जरूरी है। इनसे बालक की तन-मन की स्वच्छता बढ़ेगी ही।

: १० :

गणित

गणित के शिक्षण की सार्थकता सवाल हल कर पाने में नहीं है अपितु गणित-बुद्धि के विकास में निहित है। बालक एक, दो, तीन, चार आदि संख्याएं सही-सही गिन ले, मांगने पर मांग के परिणाम में बराबर गिनती कर के चीजें वस्तुएं ला दे, फिर भी जब कभी वह संसार के परिचय में आये और आते ही उसमें अपने आप गिनती करने का प्रश्न न उठे, यथा हाथों की उंगलियां देख कर कि 'ये उंगलियां कितनी हैं ?' 'मेरे कोट के बटन कितने होंगे ?', 'खिड़की की ये सलाखें कितनी होंगी ?' ऐसी जिज्ञासा न जागे, तो भले ही उसे गिनती करना आता होगा पर उसकी गणित-बुद्धि का विकास नहीं हुआ है, यही कहा जाएगा।

अगर कोई बालक सही ढंग से भाषा-विकास की दिशा में बढ़ा है तो वह मात्र पाठ्य-पुस्तक पढ़ कर ही बैठा नहीं रह जाएगा। भाषा के द्वारा वह ज्ञानार्जन करता ही जाएगा। भाषा को वह माध्यम बना लेगा। मात्र बारहखड़ी ही उसने सीखी होगी तो सड़क के साइनबोर्ड और अखबार के बड़े-बड़े अक्षरों को पढ़ने में अत्यंत उत्साह प्रदर्शित करेगा। यही बात गणित में होनी चाहिए। सुबह से लेकर शाम तक बालक के सामने व्यवहार में हिसाब के कितने ही विषय आते हैं। अगर उन पर सचमुच नजर पड़े तो बालक के मन में गणित के प्रश्न उभरने चाहिए। अगर गायों का झुंड जाता हो तो कितनी गायें जा रही है ? घर में बेर आए हों तो वे कितने हैं ? उनमें से इतने नहीं रहे तो कितने बचे ? इतने बेर चार बालकों में बांटे जाएंगे तो

सबों के हिस्से में कितने-कितने आएंगे ? आदि-आदि प्रश्नों को वह छोड़ देता है। अगर यह नहीं होगा तो उस बालक की गणित-बुद्धि जाग्रत नहीं हो पाएगी और उसकी हालत ठीक उस बालक जैसी हो जाएगी जिसकी रंग-दृष्टि का विकास नहीं हुआ। संध्या के रंग ऐसे बालक के लिए अंधे के आगे आरसी की तरह निरर्थक ठहरेंगे। जब गणित-विवेक ही नहीं है, तो ऐसे प्रश्न हर्गिज नहीं उभर सकेंगे।

सामान्यतया गणित-बुद्धि का विकास याने सामान्य समझ एवं शुद्ध कल्पना का विकास। एक बालक से पूछें कि 'एक गाय के तीन पैर हैं तो सात गायों के कितने ?' बालक कहेगा, 'इक्कीस'। याने उसका हिसाब सही है, पर उसमें सामान्य समझ को लेकर अंधकार है। किसी बालक से पूछें: 'एक गधे के तीन कान...?' और बालक बीच ही में रुक कर बोल उठे : 'हो ही नहीं सकता।' तो इसे कहेंगे सामान्य समझ या सामान्य ज्ञान। एक बालक से पूछा : 'कोठी में गेहूं कितने भर जाएंगे ?' उसने कहा : 'अपरिमित ! कई माप जितना।'

इस बालक ने प्रत्यक्ष ज्ञान से थोड़े से अधिक गेहूं होने की कल्पना की है, ऐसा कहा जा सकता है। पढ़ने वाला भरोसा करके देख ले। दूसरे बालक से पूछा गया : 'रुपए के आने कितने?' वह बोला : 'सोलह।' फिर पूछा : 'इस प्याले में कितनेक भर जाएंगे ?' वह बोला : 'बीस।' जब कि प्याले में पचास आने आ सकते थे। यहां पर बालक की स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जाने की कल्पना कर पाने की असमर्थता है।

छठी कक्षा के बालक को एक हिसाब लिखाया : 'एक आदमी रुपये भर नमक खाता है। दस वर्ष तक बराबर खाने के बाद वह मर गया, तो मरने के दिन उसके पेट में कितना नमक होगा ?' बालक के सामान्य ज्ञान और तर्क की जांच के साथ उसके गणित-शिक्षण की भी कसौटी हो गई। वह बोला-अमुक मण ! यह तोता-रटंत थी ! ऐसा इस कारण से होता है कि हम गणित के साथ व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष अनुभव को नहीं जोड़ते। बालकों को गणित मौखिक या पट्टी पर सिखाया जाता है जबकि गणित-बुद्धि के विकास के लिए शुरू से ही व्यवहार में तथा प्रत्यक्ष अनुभव के साथ सिखाना चाहिए।

•

: ११ :

गणित क्यों नहीं आई !

अंकगणित मुझे अच्छी नहीं लगती। मेहनत करके जितना कुछ सीखा था, वापिस भूल गया हूं। जहां बहुत जरूरत थी, वहां भी गणित को सीखने के प्रति अनादर का भाव था। मुझे गणित की महत्ता बताने बिठा दो तो बहुत कम आंकूं। प्राथमिक शाला के पाठचक्रम में मैं इसे बहुत हल्का स्थान देता हूं।

एक बार दूसरी कक्षा में गणित की पढ़ाई चल रही थी। अध्यापक जी श्यामपट पर सवाल लिखा रहे थे। लड़के उनके सामने मुंह फाड़े देख रहे थे। एक विद्यार्थी को झपकी आ गई और अध्यापकजी ने उस पर चाक का प्रहार किया। मैं ही हूं वह लड़का। क्या मुझे उस रोज वह सब अच्छा लगा होगा ?

कहीं गणित के प्रति मेरी अरुचि का, भले ही दूर का हो, पहला कारण वह सजा तो नहीं ? आगे चलकर इस विषय में रुचि बढ़ाने के मार्ग में कहीं यही मूल मनोभाव विरोध का काम तो नहीं कर रहा था ? खुद गणित पढ़ाने के खिलाफ मेरी शिक्षण संबंधी विचारधारा कहीं मेरे निजी कटु-अनुभव की परिणति तो नहीं थी ?

यही लगता है मुझे तो। क्योंकि, गणित के प्रति किसी अन्य कारण से मुझे दुश्मनी नहीं। बीजगणित और रेखागणित मुझे बहुत प्रिय हैं। लेकिन शिक्षक ने भी मुझे अंकगणित विषय का द्वेष्टा बताया है।

हमारी वर्तमान रुचि-अरुचि, पक्ष-विपक्ष, पसंद-नापसंद के पीछे बचपन के कैसे-कैसे खट्टे-मीठे अनुभव विद्यमान रहते हैं, यह हमें खोजने की जरूरत है। आज हम जो हैं, उसकी जड़ें हमारे बाल्यकाल में है। हम बाल्यकाल में बंध जाते हैं।

बालकों को कड़ुए-मीठे अनुभव कराने से पहले यह सोचने की जरूरत है कि उनका कैसा पक्का असर जीवन-पर्यंत स्थाई रह जाता है, और वह नुकसान कर बैठता है।

•

: १२ :

यह तो मेरी देखा-देखी बिगड़ रहा है !

बचुभाई से मैंने पूछा : 'क्यों भैया, तुम इधर बाल-मंदिर क्यों नहीं आ रहे थे ?'

उसने कहा : 'मुझे बुखार आ रहा था।'

पास ही बचुभाई के पड़ौसी का लड़का खड़ा था। मैंने उससे पूछा: 'क्यों प्रतापराय, तुम क्यों नहीं आ रहे थे ?' प्रताप उत्तर देता उससे पहले ही बचुभाई बोल उठा : 'यह तो मैं नहीं आ रहा था ना, इसलिए नहीं आ रहा था। यह कोई बीमार नहीं था। यह तो मेरी देखा-देखी बिगड़ रहा है।'

उत्तर सुनकर मैं सोच में डूब गया। बचु और प्रताप दोनों पड़ौसी के लड़के। हमेशा बाल-मंदिर में साथ-साथ आने वाले। एक ही कक्ष में काम करने वाले। एक का दूसरे के बिना पल भर भी मन न लगे, ऐसे मित्र। बचु बीमार पड़े तो प्रताप को अकेले आना अच्छा न लगे, यह स्वाभाविक बात है। बचु को भी ऐसा ही लगा होगा। फिर भी उसने कहा : 'यह तो मेरी देखा-देखी बिगड़ रहा है।' बचु बीमार पड़ा तो उससे वह बिगड़ गया, यह बात वह स्वयं नहीं मानता। बीमार पड़ने से भी बिगड़ा जा सकता है, ऐसी बातें अभी बालकों के सौभाग्य से हम लोग उनके दिमाग में ठूंस कर बिठा देने की सीमा तक नहीं गए। अभी हम लोग उस हद तक नहीं बिगड़े। प्रताप को अपने मित्र के बिना शाला में आना नहीं रुचता और वह घर में रहता है, तो इसमें बचु को बिगड़ने जैसा क्यों लगता है ? फिर भी बचु कहता है : 'यह तो मेरी देखा-देखी बिगड़ रहा है।'

बचु क्यों कहता है इस तरह ? क्या प्रताप उसकी देखा-देखी बिगड़ा है ? वस्तुत: बचु इस कारण से यह बात कहता है, क्योंकि प्रताप की मां ऐसा कहती है—'मुंआ, बचु की देखा-देखी बिगड़ रहा है।' बचु के घर में से कोई कहता है : 'बचु की देखा-देखी प्रताप बिगड़ रहा है।' प्रताप की मां के अनुसार शाला न जाना, याने बिगड़ जाना। बचु के घर वालों के अनुसार प्रताप का आकर चक्कर लगाना, याने बिगड़ जाना। या फिर प्रताप की मां कहती है कि 'प्रताप बिगड़ रहा है, इसलिए बिगड़ जाने की बात है।'

इसमें प्रताप कहीं नहीं बिगड़ा, और बचु की देखा-देखी तो विशेष रूप से नहीं बिगड़ा। फिर भी जब बचु कहता है कि 'यह मेरी देखा-देखी बिगड़ रहा है' तब क्या वह सचमुच वही कहता है जो समझता है। मानो वह इस तरह से कह रहा है कि उसके बिगड़ने की जिम्मेदारी उसी की है। ऐसा कहते समय उसके चेहरे पर ऐसा ही भाव है। वह प्रताप को भी जैसे इन्हीं शब्दों से उलाहना दे रहा है कि 'तू मेरी देखा-देखी बिगड़ गया और शाला नहीं आया।' प्रताप नहीं आया इसके लिए जैसे वह मेरे सामने आजिजी करता दिखाई दे रहा है। वह पास खड़ा है और इस तरह से चिंतित होकर देख रहा है मानो उसने कोई गल्ती की हो।

दोनों में से कोई भी नहीं बिगड़ा, फिर भी दोनों समसुच यही मान रहे हैं। इसका दोष हम बड़ों के माथे है। हमने ही यह इच्छा व्यक्त की है कि प्रताप शाला आए, जबकि उसे मित्र के बिना आना अच्छा नहीं लगा। हमने उसे 'बिगड़ गया' घोषित किया। यही नहीं, हमने यह बात बचु के सिर पर डाली कि तुम्हारी देखा-देखी प्रताप बिगड़ा, जबकि उसे उससे कोई लेना-देना भी नहीं था। हमने निर्दोष वस्तु में दोष का आरोपण किया। हमने उनमें यह विचार पैदा किया कि दोनों कुछ हो गए हैं। इसी से दोनों में गुनहगार होने का भाव जागा। ऐसा करके हमने ही उन्हें सरल एवं स्वाभाविक स्थिति से भ्रष्ट किया। एक के मन में 'बिगड़ गया है, का भाव ठसा दिया है कि 'अब मैं बिगड़ गया, इसलिए और ज्यादा बिगड़ सकता हूं।' उस मार्ग में जाने का उसे

पता भी न चले, इस तरह हमने उसे धकेल दिया। जबकि दूसरे के मन में यह भाव ठसा दिया कि 'वह तेरी देखा-देखी बिगड़ा है, इसलिए तू इस पर नाराज हो, इसकी दोस्ती त्याग, इसके वास्ते प्रायश्चित कर या फिर यह जिम्मेदारी ले कि वह न बिगड़े।'

बच्चे जो भी काम एक-दूसरे के साथ, एक-दूसरे को देखकर एक-दूसरे के सहवास में करते हैं वह 'देखा-देखी बिगड़ने' के लिए नहीं करते। एकाध बालक जो भी खरा-खोटा करता है, उसे देख कर अनुकरण-प्रधान बालक वैसा कर बैठता है, यह सच है। पर वह बिगड़ने के लिए नहीं करता। बेशक, उस पर अच्छे-बुरे का असर होता है। पर वह अच्छा बनने या बुरा बनने की इच्छा से प्रभाव नहीं लेता। संगति के कारण ऐसा होना संभव है। अच्छी संगति दीजिए और बुरे से बालक को बचाइए, यह विचार स्वीकार किया जाना चाहिए। अगर बालक बिगड़ता है तो उसे अलग कीजिए, हटा लीजिए और इस तरह उसे बचा लीजिए। अगर उस पर किसी की संगति का असर हुआ होगा तो हटाते ही दूर हो जाएगा। लेकिन 'तू बिगड़ गया है' या 'अमुक की देखा-देखी बिगड़ा है' ऐसे बोल बोल कर व्यर्थ में ही उसमें यह मिथ्या भावना भर कर सचमुच ही आप उसे क्यों बिगाड़ते हैं?

हमें व्यर्थ ही यह चिंता नहीं करनी चाहिए कि हमारे बच्चे बिगड़ जाएंगे।

कई बार हम अपना व्यक्तिगत अविश्वास ही बालक पर आरोपित कर बैठते हैं और चिंता करने लगते हैं कि बालक बिगड़ जाएगा। शरीर से दुर्बल पिता को हृष्ट पुष्ट बालक के स्व-रक्षण पर भरोसा नहीं आता। हम स्वयं डरपोक होने के कारण अपने बालक को भी डरपोक मानते हैं और सचमुच डरपोक बनाते हैं। हमारी अपनी बिगड़ी हुई आदत को बालक में दाखिल न होने देने के अत्यधिक आग्रह की वजह से बहुधा वही आदत हम बालक में जरूर डाल देते हैं।

बहुधा हम ही बालक को बिगाड़ते हैं या बिगड़ने देते हैं। लेकिन उसकी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, यह बात न मानकर स्वयं अपनी गलती सुधारने के बदले हम अपना दोष दूसरे बालक के माथे मंढ देते हैं और कह बैठते हैं: 'प्रताप बचु की देखा-देखी बिगड़ता है।' बालक के बिगड़ने की हमें शर्म आती है पर यह बात स्वीकारते हुए जैसे सिर पर चोट लगती है कि बालक को हमीं बिगाड़ते हैं। इसी से हम दूसरे बालक पर बात उंडेल देते हैं। याने दूसरे बालक तो बिगड़े हुए हैं, एक हमारा बालक ही अच्छा है। पर वह बिचारा बिगड़ेगा नहीं तो कहां जाएगा? क्योंकि दूसरे सब बालक बिगड़े हुए हैं, ऐसी धारणा में हमारी अपनी भीरुता है, नादानी और हल्कापन है।

हम तो सही या गलत ढंग से यह बात सीख चुके कि 'मेरी देखा-देखी यह बिगड़ता है' और 'मेरी वजह से ही यह सुधरता है।' लेकिन बराय-मेहरबानी इस विचार से हम अपने बचु, प्रताप और उनकी भावी दुनिया को तो दूर रखें।

•

: १३ :

मैं पढ़ता था तब, और बचु पढ़ता है तब !

जब मैं पढ़ता था तब :

1.मास्टरजी मारेंगे या नंबर कट जाएगा इस डर के मारे मैं बड़ी मुश्किल से जल्दी-जल्दी उठ कर उल्टे पैरों विद्यालय की तरफ भागता था।

2. मास्टरजी का ऐसा डर था कि टट्टी-पेशाब की छुट्टी मांगने जाते तो हम कांपने लगते थे।

3. मास्टरजी की ऐसी धाक थी कि सवेरे-शाम अगर हम गली में खेलते होते और पता लगता कि मास्टरजी आते हैं तो छिप जाते थे। मास्टरजी को मुंह तक नहीं दिखाते थे। कहीं देख लेंगे तो कहेंगे: 'अरे ओ! इस तरह क्यों भटकते हो?' अगले दिन कक्षा में हमसे किसी सवाल का उत्तर देते न बनेगा तो कहेंगे: 'कल गली में भटकते थे, क्यों?'

4. विद्यालय–प्रांगण में कबूतर और मोर दानें चुगने आते थे। हमारा मन करता था कि इन्हें जी भर कर देखें पर नक्शे से हट कर पल भर को आंख इस तरफ जाती कि मास्टरजी कमर में घूंसा मार देते और कहते 'उधर क्या देखते हो? इधर नक्शे में देखो, नक्शे में।'

5. कोई बारात निकलती और बाजे बजते तो उसे देखने को हमारे मन में जाने कैसी-कैसी लहरें उठती। लेकिन उधर मास्टरजी कक्षा में आँखें निकालते और गला फाड़ कर चीखते हुए सवाल लिखवाते: 'लिखो...दो रुपए का सवा सेर....'

6. गृहकार्य न आता तो मास्टरजी हमें धमकाते थे। पास बुलाकर कान मरोड़ते हुए कहते: 'कैसे नहीं आता?' हम कहते: 'भाई सा'ब! आता नहीं!' वे कहते: 'क्यों नहीं आता?' या फिर कहते: 'तू तो बस बारात में जा, फिर सवाल समझ में आ जाएगा!'

7. मैं रोजाना सोचता कि कब रविवार आए और कब छुट्टी मिले! शनिवार की शाम को लगता: 'उफ्! चलो, एक दिन के लिए तो छूटे!' मास्टरजी को और शाला को हम ऐसे भूल जाते थे कि बस! बाकी दिनों में जब सुबह-शाम छूटते तो दौड़ते हुए शाला से भागते–मानो पिंजरे से शेर-चीते छूटे हों।

8. मास्टरजी शाला में आते कि हम भीगी बिल्ली या गरीब गाय जैसे बन जाते। मास्टरजी के बाहर जाते ही हम जोर-जोर से शोर करने लग जाते।

9. मास्टरजी के सामने तो हम 'जी हां, जी हां' करते, उनका हुकम दौड़-दौड़ कर उठाते, पर मास्टरजी के पीठ पीछे हम उनकी नकलें उतारते और लिखने का काम कराने को लेकर उन्हें गालियां निकालते।

10.मास्टरजी खूंटी पर अपनी पगड़ी को टांगते और कुर्सी के सहारे टेबल पर टांगें पसार कर बैठते। फिर बोलते: 'चलो छोकरो! गृहकार्य दिखाओ।' या फिर मॉनीटर से बोलते: 'इन सबों का गृहकार्य इकट्ठा कर ले।'

जब मैं पढ़ता था तब ऐसी पढ़ाई होती थी। उस बात को बीते चालीस बरस हो गए।

अब जब बचु पढ़ता है तब :

1. वह अपने आप सुबह जल्दी उठता है या हमसे जल्दी उठाने को कह देता है। वह इस कारण से जल्दी-जल्दी शाला में दौड़ता हुआ पहुंचता है कि मैं कब अपने अध्यापकजी से जाकर बातें करूं, शाला-प्रांगण में झट जाकर फूलों को सूंघूं पतिंगों को पकड़ूं, शाला में संगीत सुनूं और मजे करूं!

2. बचु घर आकर कहता है: 'शाला में अगर हमें टट्टी लगती है तो हम वहीं जा सकते हैं। वहां हमारे लिए इसका अलग से अच्छा इंतजाम है। जाने से कोई भी मना नहीं करता। पेशाबघर भी अलग है। मास्टरजी ने वे जगहें हमें समझा दी हैं।

3. बचु के शिक्षक अगर उसे गली में मिल जाते हैं तो वह दौड़ कर नमस्कार करता है। कहता है:'मास्टरजी! नमस्ते।' बचु उन्हें घर बुला लाता है। कहता है : 'हमारे...मास्टरजी आए हैं।' वह उन्हें जल पिलाता है, उनके पास बैठता है, उन्हें अपनी चीजें दिखाता है।

4. बचु कहता है: 'ये मेरे...मास्टर लोग अच्छे हैं। रोज हमें मैदान में खेलाते हैं। कबूतरों और मोर आदि को चुगते हुए देखने से हमें कभी मना नहीं करते। जब हम देखते-देखते थक जाते हैं तो अपने आप पढ़ने-लिखने बैठ जाते हैं।'

5. बचु कल अपनी मां से कहता था: 'मां! जब बारात उधर से निकली तो मास्टरजी कहने लगे: अब जरा सवाल करना बंद कर दो। बारात को देख लो। कैसे बाजे बज रहे हैं! फिर बाद में बेफिक्री से सवाल हल करना।'

6. बचु की शाला में घर से गृहकार्य करने का रिवाज़ नहीं है। वह शाला में जो कुछ पढ़ता या लिखता है, वही पढ़ाई है। मास्टरजी कहते हैं: 'घर पर तो खेलो, खाओ, घूमो-फिरो। इच्छा हो तो पढ़ो, लिखो, चित्र बनाओ। पर गृहकार्य की जरूरत नहीं।' उसकी शाला का कोई भी अध्यापक गृहकार्य करने को नहीं देता।

7. बचु रोज शाम को देरी से आता है। उसे हम पूछते हैं कि 'भाई, देरी कैसे हुई?' तो वह कहता है: 'विद्यालय में खेल खेल रहा था।' मास्टरजी मिलते हैं तो कहते हैं: 'इस बच्चे को तो विद्यालय से जबरदस्ती धकेल कर घर भेजना पड़ता है। विद्यालय में रहना इसे बहुत अच्छा लगता है।' जहां बच्चे-बच्चे मिलकर साथ खेलें, और इच्छा हो तब तक पढ़ें और फिर लौट

आएं, तो भला ऐसा विद्यालय किसे अच्छा नहीं लगेगा? वहां से घर कौन आए!

8. बचु की शाला में शिक्षक हों तब भी ऐसा ही चलता है और न हों तब भी यही चलता है। वहां ऐसा नहीं है कि मास्टर को देखते ही कोई डर जाए तो थरथर कांपने लगे। या मास्टर कक्षा से जाएं तो लड़के खुशी मनाएं या टेबिलें फटकारें! बच्चे पहले से ही जो काम करते हैं वही चलता रहता है। रोजाना जैसा होता है वही होता रहता है।

9. मैंने अपनी नजरों से देखा है कि बचु अपने मास्टरजी का काम दौड़ कर करता है। अगर उसे अच्छा नहीं लगता तो मना कर देता है। मना करेगा तो मास्टरजी नाराज होंगे, ऐसा भाव उसके मन में नहीं है। वह तो जिस प्रकार से मेरा काम करता है उसी प्रकार से मास्टरजी का काम करता है। वह कहता है: 'जब मास्टरजी बोलते हैं, तब उनका मुंह यों-यों करता है।' इसी तरह से वह कहता है: 'मेरी मां जब बोलती है तब उसकी नाक इस तरह हिलती है।' और 'जब मेरी काकी चलती है तो उसकी कमर यूं-यूं बल खाती है।' बचु की अवलोकन करने की आदत है। वह सबों के लक्षण गिनाता है। यह उसकी व हमारी निर्दोष क्रीड़ा है। इसमें किसी की नकल या उपहास का भाव नहीं है। बचु के मन में ऐसा कुछ भी तो नहीं।

10. बचु के मास्टरजी के लिए कक्षा में टेबल-कुर्सी तक नहीं है। मास्टरजी खड़े रहते हैं और देखते रहते हैं कि बच्चे क्या पढ़ते हैं, क्या लिखते हैं! वे सबों का काम देखते जाते हैं और कुछ कहना हो तो कहते जाते हैं। बच्चे उनके पास आकर समझ में न आने वाली बातें पूछते हैं और मास्टरजी उन्हें बताते रहते हैं। उन्हें सांस लेने भर की भी फुर्सत नहीं मिलती।

यह है पुरानी शाला का मेरा अनुभव और नयी शाला का बचु का अनुभव। पुराने जमाने से इस जमाने तक आते-आते इतना बड़ा फर्क पड़ गया है।

•

: १४ :

तुम से कितनी बार कहा !

'कितनी बार तुमसे कहा कि उकडूं मत बैठा कर ? कितनी बार तुमसे कहा कि तू इधर-उधर हाथ मत लगाया कर ? कितनी बार तुमसे कहा कि तू बीच-बीच में मत बोला कर ? कितनी बार तुमसे कहा कि अपने मुंह में उंगलियां मत डाला कर ? कितनी बार तुमसे कहा कि किसी के घर जाएं तो सीधा रहा कर, तुझे कोई चीज नहीं मांगनी चाहिए, जो भी दे दी जाए वही ले-लिया कर ।'

यह 'कितनी बार तुमसे कहा' वाली बातें कितनी ही बार कही जाती हैं, लेकिन फिर भी कितनी ही बार कहने से रह जाती हैं । और फिर भी कितनी ही बार कह चुकने पर हम बाज तो नहीं आए ना ! 'कितनी बार तुमसे कहा' —यह वाक्य ही बता रहा है कि हम पहले भी कई बार कह चुके हैं, और इस बार एक बार फिर कह रहे हैं । तो क्या अब भी हमें यह 'कितनी बार कहा' का सिलसिला जारी रखना है, या कोई दूसरा मार्ग खोज निकालना है ?

हमारे भीतर कोई ऐसी मान्यता घर किये हुए है कि कहेंगे तो हो जाएगा । पहली बार जब हम 'ऐ ! उकडूं मत बैठ !' 'ऐ ! ठीक से बैठ !', 'ऐ गड़बड़ मत कर !' आदि हुकम छोड़ते हैं तो हमारे मन में यह भाव होता है कि कहेंगे, तो वे जरूर करेंगे ! लेकिन तुरंत ही हमें एक भिन्न अनुभव होने लगता है । बालक वैसा नहीं करता—कर भी नहीं सकता ! तब हम यह मानने लगते हैं कि वह जानबूझ कर ही वैसा नहीं करना चाहता, उसका करने का मन नहीं है, आज्ञा मानना उसे पसंद नहीं है । तब हम उसे दूसरी बार कहते हैं कि 'ठीक से बैठ ।', 'गड़बड़ मत कर ।', 'किसी के घर जाए तो सीधा रहना, हरेक चीज मांगने मत लग जाना ।' लेकिन हमारा कहा बेकार जाता है । तब हम उसे तीसरी बार कहते हैं, चौथी बार कहते हैं, पांचवीं बार, पचासवीं बार, सौवीं बार और हजारवीं बार कहते हैं, फिर तो कितनी ही बार हो जाता है । जब हम यह कहते हैं कि 'कितनी बार तुमसे कहा' तो सचमुच हमें कहते-कहते कितनी ही बार हो जाती है ।

अब जरा हम सोचें तो सही । बार-बार कहने से आने वाली ऊब उक्त वाक्य में स्पष्ट है, पर उतनी ही हमारी असफलता भी जाहिर है । हमें यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि लाख बार तो क्या अपरिमित बार कहेंगे तब भी कुछ होना-जाना नहीं । ऐसे कहने से क्या हो जाएगा ? जीभ कह तो देती है, पर वह-सब करने वाले से हो, तब ना ? नहीं होता तो उसका क्या ?

यह बात ठीक है कि बालक को इधर-उधर किसी की आज्ञा के बिना हाथ नहीं लगाना चाहिए । यह भी सही है कि सभ्यतापूर्वक बैठना चाहिए । बालक में बीच-बीच में बोलने की आदत न हो, यह भी जरूरी है । और बालक मुंह में उंगलियां डाले यह भी हमें पसंद नहीं । दूसरों के घर जाने पर बालक को अमुक प्रकार की मर्यादा रखनी चाहिए । ये सब बातें सही हैं ।

पर इजाजत के बिना न छूने के शिष्टाचार की संस्कारिता, सभ्यतापूर्वक बैठने के लिए अंगों पर नियंत्रण, बीच में न बोल कर धीरज रखने का निग्रह, उंगलियां मुंह में न डालने की अच्छी आदत : ये सब तभी तो आ सकती हैं कि जब बालक की इन्द्रियों का समुचित विकास किया जाए, उसकी सद्-असद् विवेक-बुद्धि को विकसित किया जाए, उसकी क्रियाशक्ति को ताकतवर बनाया जाए और उसमें हुकम उठाने की समझ व शक्ति दोनों प्रदान की जाए ।

अगर हुकम को हम कामधेनु बना सकें या जादुई छड़ी बना सकें, तभी तो हुकम से शक्ति आ सकेगी । अगर यह न हो सके तो हमें हुकम देना पहली ही

बार में बंद कर देना चाहिए ! बालक में हम जो गुण चाहते हैं, उनके अभाव के कारणों को हम ढूंढ़ें, और उन्हें दूर करें। साथ ही बालक में जिन-जिन वस्तुओं के अस्तित्व से हमारी वांछित अच्छाइयां आ सकती हैं, उनका उनमें विकास किया जाना चाहिए।

जब पेड़ ऊपर से सूखने लगता है। तो जड़ों में पानी दिया जाता है या इस बात का पता लगाया जाता है कि सड़न कहां है, बालक को इस तरह से सुनाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता कि 'तुमसे कितनी बार कहा है।' यही बात बालक के लिए है कि न्यूनता, त्रुटियां, रोग और शैतानी आदि के मूल बालक के अविकास, अशक्ति, अल्पशक्ति या विकृति में समाये हुए हैं। अगर इन्हें हटाना चाहते हैं तो इनका पता लगाना होगा और प्रत्येक नयी कठिनाई के प्रसंग में नया विचार, नयी शोध, नया उपाय करना होगा। एक जनरल प्रेस्क्रिप्शन से जिस प्रकार कोई भी रोग मिटता नहीं, उसी प्रकार एक जनरल हुकम से या उपाय से भी कुछ होना-जाना नहीं।

हमने बालक को हुकम देकर उसके विकास के प्रश्न का समाधान करने की बहुत कोशिश करके देख लिया, लेकिन बाल-विकास का कार्य अत्यंत कठिन है अतः इसके लिए हमारी कोशिश भी अथाह होनी चाहिए। अब हम 'कितनी बार कहा' के बजाय कितनी ही बार नए-नए उपचार करें, और ऐसा रास्ता तलाश करें कि जिसमें हमें एक भी बार कहने की जरूरत न पड़े।

●

: १५ :

कहां से आई होगी ?

गुलाब के पौधे पर तीन गुलाब खिले थे—एक बड़ा और दो छोटे। बहुत सुंदर लग रहे थे। दो बालक आए और मेरे पास खड़े हो गए। मेरा मन उमड़ उठा और गुलाब तोड़ कर उनको देने के लिए मैंने हाथ बढ़ाया।

एक ने कहा : 'इन्हें रहने दीजिए, रहने दीजिए, ये तो ऐसे ही सुंदर लगते हैं।'

लेकिन इतनी देर में तो मैंने दो छोटे-छोटे गुलाब तोड़ लिये। बालक बोला : 'अब यह तीसरा न तोड़िए। यह सुंदर लगता है।'

दोनों बालक गुलाब के वे फूल लेकर चले गए। इधर मैं सोचने लगा : 'बालक में ऐसी सौंदर्य-दृष्टि कहां से आई होगी ?'

दोनों बालक बाल-मंदिर में आते हैं। फूलों के प्रति सब बालकों को एक समान दृष्टिकोण रखने का ज्ञान दिया जाता है। सबों से कहा जाता है कि बगीचे के फूलों को तोड़ें नहीं, अपितु उन्हें सूंघें और देखें। सबों से कहा जाता है कि तोड़ने से फूल कुम्हला जाते हैं, और डाली पर वैसे के वैसे रहने दें तो बाग भरा-भरा नजर आता है। फिर भी कई बालक तो फूलों को सबों के सामने चौड़े-धाड़े तोड़ते हैं। उन बालकों ने लगता है मेरे कहने का मतलब नहीं समझा। और बालक भी फूल तोड़ते हैं, पर जरा छुप-छुप कर। उनके लिए मेरी मनाही एक तरफ है और उनका फूल तोड़ने का मन दूसरी तरफ। मेरे कथन से लगता है उनकी सौंदर्य-दृष्टि विकसित नहीं हुई, या फिर सौंदर्य-

अवलोकन के आनंद की बजाय उनमें सौंदर्य के उपभोग का आनंद अधिक होता है। कई बालकों को मैंने बाग में घूमते और एक-एक फूल को नाक से छूकर सूंघते देखा है। वे सब फूलों को रोजाना देख-देख कर सूंघते हैं। वे मेरी आज्ञा का पालन करते हैं या संभव है उनमें सौंदर्य-दृष्टि का विकास हो गया हो। अगर इन्हें फूल तोड़ कर दिये जाएं तो खुशी होगी। अगर इन्हें बगीचे के फूल तोड़ लेने की छूट दे दी जाय तो ये सब के सब तोड़ कर ले जाएं। बगीचे में एक भी फूल न रहने दें!

कोई बालक जब बाग से फूल तोड़ता है तो दूसरा बालक मेरे पास आकर शिकायत करता है कि 'उसने फूल तोड़ा।' कोई बालक दूसरे को फूल तोड़ते देखकर उसे रोक देता है, 'बाग का फूल मत तोड़ना। गिजुभाई ने मना किया है कि वहीं लगा रहने दो। उसे डाली पर लगे-लगे ही सूंघो।' लेकिन किसी बड़े आदमी को फूल तोड़ते देख कर बालक को मैंने यह कहते कभी नहीं सुना था कि 'अरे! इन्हें रहने दीजिए। ये सुंदर लगते हैं। इन्हें ऐसे ही रहने दीजिए।' स्वयं को लेकर यह मेरा पहला प्रसंग था और पहला ही अनुभव था। मैं सोचने लगा कि बाल-मंदिर के सब बच्चों को एक समान वातावरण और एक-सी सूचनाएं दी गई थीं, फिर भी यह कैसे हुआ?

कारण यह समझ में आता है कि सूर्य का प्रकाश सर्वत्र है, सबों का स्पर्श करता है। लेकिन काच में सूर्य का स्वच्छ प्रतिबिंब पड़ता है, जबकि पत्थर के ठीकरे में नहीं पड़ता और धातु के बर्तन में अस्पष्ट ही पड़ता है। ठीक इसी प्रकार वातावरण भी किसी का स्पर्श करता है, किसी को छूता है और किसी में गहरे उतर कर उसे आंदोलित कर देता है। मूल शक्ति वातावरण में नहीं उसे ग्रहण एवं धारण करने में है। ग्रहण-धारण करने वालों में कुछ धातु रूप होते हैं, कुछ ठीकरा-रूप और कुछ काच-रूप तो कोई हीरा-रूप होता है, और उसी परिमाण में उन पर प्रभाव पड़ता है। वातावरण अपनी मूल कीमत प्रदान नहीं करता, न उसमें अभिवृद्धि करता। वह तो मूल विशेषता या गुण को बाहर खींच लाता है, उसकी गुणात्मकता याने उसका

मोल ठहरा देता है, उसमें पेल डाल कर उसे चमक दे देता है और उसे कई-कई गुणा कीमती बनने का अवसर प्रदान करता है। मूल शक्ति को जीने और विकसित होने की अनुकूलता प्रदान करता है। बाग और मेरी सूचना वातावरण रूपी है, इसमें सौंदर्य-प्रिय आत्माओं से लेकर सौंदर्य-अंध आत्माओं तक के दर्शन हो सकते हैं। इस तरह आज मैंने एक सौंदर्य-प्रिय बालक का दर्शन किया। यह बालक सौंदर्य-प्रेमी कैसे है, इस बात का निश्चय करने के लिए तो हमें उसके घर चलना चाहिए, उसके साथ रहना चाहिए, उसके माता-पिता के सर्वांग जीवन को देखना चाहिए। पर अगर वह भी एक वातावरण है, यही लगता है और यही अर्थ लें, तब तो बालक की पूंजी–उसके बीज में हमें जाना चाहिए, कैसा बीज है यह, किस प्रकार का और किस स्तर का है, पूंजी कैसी है और कितनी है–इसका हमें पता लगाना होगा। इस शोध का अर्थ है हमारे अपने ही आत्म-ज्ञान की शोध। इस शोध का अर्थ है क्या, कैसे, कहां की शोध! लेकिन शिक्षक को–बालक के जीवन-द्रष्टाओं व नेताओं को तो यह शोध करने पर ही मुक्ति है। जब तक वे यह ज्ञात नहीं करेंगे तब तक अधूरे और अतृप्त ही रहेंगे।

•

: १६ :

एक अवलोकन

चालीस मिनट बीत गए हैं। तीन वर्ष की नन्हीं टीकु 'बीबीज एन्युअल' देख रही है। कमरे में हम दो ही हैं और चारों ओर शांति है। वह पन्ने उलट रही है और चित्रों को एकटक गौर से देख रही है। मन ही मन वह कुछ बोलती भी जाती है। किसी चित्र को बड़ी देर तक देखती है और किसी को झट से पलट देती है। बीच-बीच में चुनड़ी के पल्ले को भी दुरुस्त करती जाती है।

मैं अपना काम कर रहा हूं, और देख भी रहा हूं कि टीकु कितनी देर तक चित्रों को देखती है। दस मिनट बाद वह चित्र देख कर उठ खड़ी होती है। कुल मिलाकर पचास मिनट तक उसने एक-सार चित्र देखे। वह खड़ी है, शांत है, खुश है, गुलाब का फूल सूंघ रही है। मुझसे कहने लगी : 'चमा, चरे, चदा, चरे, चज, चतुं, चछे।' (मारे घरे जवुं छे–) याने मुझको घर जाना है।

मैंने उसे पूछाः 'चित्र और देखेगी ?' वह बोली : 'हां।'

मैंने खड़े होकर उसे दूसरी चित्र-पोथी दे दी। वह उसे देखने लगी। फिर से उसके चेहरे पर वही पहले वाली एकाग्रता और आनंद छा गया। दस मिनट बीत गए। कुल साठ मिनट हुए। इतने में सुशीला ने आवाज दी : 'गिजुभाई। टीकु को लेकर नीचे आ जाइए।'

टीकु बोली : 'गिजुभाई ! सुशीला बुलाती हैं।' हंसती-हंसती वह अपने आप उठ खड़ी हुई और मेरी हथेली में उसने एक ताली दी। फिर बोली : 'देखो न, ये चित्र कितने अच्छे हैं !' ऐसा कह कर उसने मुझे चित्र दिखाए और फिर से हंसी। उसकी आंखों में आनंद था। मुंह गुलाबी हो गया था। मैं चित्र देखने लगा।

हम नीचे चले आए। चित्र देखना अधूरा रहा। चलते समय जरा मटक कर उसने कहा : 'इसने तो दक्षिणी साड़ी पहनी है ना !' मैंने हां कहा। वह दौड़ती-दौड़ती अपने आप नीचे उतर गई। मन में बहुत आनंद समाया था—फिर वह अपनी बहन के साथ घूमने निकल गई। •

: १७ :

यह मैं क्या ले बैठा ?

मैं बोला : 'चलो, लड़को ! अब गणित करो। चलो, लिखो।' चार सवाल एक साथ लिखा दिये। कोई पौंड, शिलिंग, पेंस में, तो किसी में रुपए, आना, पाई। लड़के सिर झुकाकर गुन-गुन की आवाज करते सवाल करने लगे। कोई लड़का ऊपर सिर उठाता है कि मैं कहता हूं : 'ऐ, ध्यान रख ! उधर खिड़की में क्या देखता है ? परीक्षा आ गई है, पता नहीं ?'

बाहर मजेदार वर्षा बरस रही है। छत से पानी की अजस्र धारा नीचे बह रही है। भैंसें वर्षा में नहा रही हैं। सड़क पर जहां-तहां पानी ही पानी पड़ा है। इधर-उधर जैसे नदी बह रही है। आकाश में बादल उमड़े हैं। बड़ा ही सुंदर दृश्य है। मैंने सोचा : 'कितना सुंदर दृश्य है ! कैसा सुंदर शिक्षण है यह ! और कहां तो यह पौंड, शिलिंग, पेंस और कहां यह निसर्ग की भव्यता ? कहां तो वह कलमुंही परीक्षा और कहां यह विराट का दर्शन ?'

मन ही मन मैं बोल उठा : 'मैं भी यह क्या ले बैठा हूँ ?'

× × ×

मेरी आवाज सख्त थी। आंखें फटी हुई थी। बाबू से मैंने कहा : 'बस, बाहर न जा ! भीग जाएगा। बीमार पड़ जाएगा। फिर रोज-रोज कौन दवा करेगा ? बरसात में जाकर क्यों नहाता है ? वहां गरम पानी रखा है, नहान-घर बंद करके मल-मल कर नहा ले।' बाबू बेचारा बैठा रहा, बोलता भी क्या ?

बर्षा बरसती रही। चार पांच लड़के इधर से आए और दो-तीन लड़कियां उधर से आईं। वे सड़क पर नंगे दौड़ते थे, नाचते थे, किलकारी मार कर कूदते थे। सर्दी उन्हें लग नहीं रही थी। ठंड लगे भी कैसे? बीमार क्यों-कर पड़े?

मेरा मन बोल उठा: 'इन सब लड़कों की तरह बाबू भी तो एक लड़का है। ये तो बीमार नहीं पड़ेंगे और अकेला बाबू बीमार पड़ जाएगा? जब ये नंगे नहा सकते हैं तो बाबू क्यों नहीं नहा सकता?'

मैंने मन ही मन कहा: 'यह मैं क्या ले बैठा हूं?'

•

: १८ :

गल्ती न निकालें

बाल-मंदिर में एक मेहमान आए। चित्रकारी में उनकी थोड़ी-बहुत गति होगी। उनसे मैंने कहा: 'घूमिये और देखिए कि बालक क्या करते हैं। आपको अपने-आप पता लग जाएगा कि स्व-शिक्षण का काम कैसे चल रहा है। बस, इतना ध्यान रखिए कि बालकों को आप हिदायतें न दें, और गल्तियां तो हर्गिज न निकालें।'

वे घूमने लगे। एक बालक वाटर-कलर का कार्य करने लगा। उसने बक्सा, ब्रुश और पानी की बाटकी ली। बक्सा खोला और कागज को टेबिल पर रखा।

वे सज्जन मेरे पास आए और कहने लगे: 'बक्सा साफ होना चाहिए, उनमें रंग लगे हुए होने से वे रंग दूसरे रंगों को खराब करेंगे। बालक से रंगों को साफ करने को कहा जाना चाहिए।'

मेरे मन में धीरज था। अनुभव ने मुझे वृद्ध बना दिया था। मैंने कहा: 'देखिए देखें, वह क्या करता है।'

इतने में बालक उठा और गीले कपड़े का टुकड़ा लाकर बक्सा साफ किया, ब्रुश को धोया और रंग बनाने लगा।

मुझे उन सज्जन को कुछ भी कहना न पड़ा। पता नहीं उन्होंने इस पर गौर किया था या नहीं, पर इस संबंध में वे मूक ही रहे।

बालक ने एक पत्ती में नीला रंग भरा। रंग भरते समय बालक एकाग्र व खुश था। एक बड़े चित्रकार जैसी गंभीरता और स्थिरता उसमें थी। अपने हिसाब से वह एक महान सर्जनात्मक कलाकृति बनाने बैठा था।

वे सज्जन पास आए और बोले : 'नीले रंग से भरी गई इस पत्ती में लहरें पड़ी हैं। बालक को यह बताना चाहिए कि रंग भरते समय उसमें लहरें न पड़ें। उसे रंग को बीच में नहीं छोड़ना चाहिए। एक किनारे से रंग को नीचे उतारते जाना चाहिए। अगर बालक यह विधि नहीं अपनाएगा तो रंग करना उसे आएगा नहीं।'

मैं धैर्य से सुनता रहा। उनका मान रखते हुए मैं कुछ नहीं बोला।

वे जो बोल रहे थे, उसे चित्र बनाने वाले बालक सुन रहे थे।

वे मेरे पास से उन बालकों के पास गए और किसी एक से कहा : 'ब्रुश को यूं नहीं, यूं पकड़नी चाहिए।'

बालकों ने चित्र बनाना बंद कर दिया। उनका मुंह उतर गया, वे निराश हो गए।

मैं तो वहां से अपने काम चला गया। लिखने में लगा था कि बालकों ने वहां आकर जरा संकोच और हास्य के साथ मुझसे कहा : 'वे सज्जन हमारी गल्तियां निकालते हैं। कहते हैं कि लहरें पड़ जाएंगी और यूं हो जाएगा। इसलिए चित्र बनाना अब हमें पसंद नहीं। हम चित्र नहीं बनायेंगे।'

मैंने कहा : 'ठीक है, मत बनाओ।'

बालक वहां से चले गए।

उन सज्जन से मैंने बात की तो वे कहने लगे : 'गल्ती क्यों न निकालें ? गल्ती नहीं निकालेंगे तो फिर बालक सुधरेंगे कब ?'

मैंने उत्तर दिया : 'आपने उनकी गल्ती निकाली, जिसका सीधा परिणाम तो अपनी नजरों के सामने ही देख लिया। बालकों ने काम करना

ही बंद कर दिया। उनके मन में आपके प्रति अनादर का भाव भर गया। अब उनकी त्रुटि सुधरी या नहीं, यह तो और बात है, पर काम करना तो बंद हो ही गया ना ! काम करने का उनका आनंद भी जाता रहा। आज के दिन की चित्र-प्रवृत्ति का तो भोग लग गया और आज के दिन जो कुछ उनका विकास होता, वह रुक गया।

'हमें काम करते हुए बालक का सिर्फ अवलोकन करना चाहिए। अगर हमें लगे कि उनके काम करने की रीति में या साधन में कोई दोष है या त्रुटि है तो हमें पता लगाना चाहिए कि वह किस कारण से है और उस कारण को हमें दूर करना चाहिए। उदाहरण के लिए बालक की पेंसिल अच्छी तरह से निकाली हुई नहीं है और उससे लाइन खराब आती है या कागज अच्छे किस्म का न होने से उस पर रंग फैल जाए, तो हमें कागज व पेंसिल को बदलना चाहिए।

'अगर बालक के काम में पूर्व तैयारी की अपरिपक्वता के कारण कमी दिखे, तो उसकी त्रुटि निकाले बगैर जो काम पहले पक्का होना चाहिए था और जो बराबर हुआ नहीं, उसे पहले पूरा करने देना चाहिए। उदाहरण के लिए रंग भरने के काम में बालक को अधूरा ज्ञान हो। जहां पर इकसार रंग भरा हो वहां बराबर एक- सरीखे रंग न भर सके, एक में नीला रंग भर जाता है और दूसरे में उससे भिन्न दूसरा रंग भर जाता है, तो ऐसे में उसे रंग की तख्तियों पर काम करने बिठाना चाहिए। जब यह काम पूरा हो जाएगा तो उसकी आंखें स्वत: रंग-संबंधी अपनी भूल को ठीक कर लेगी। और फिर गल्ती होने का अर्थ यह है कि बालक अभी पूर्णता के मार्ग पर है, संतुलन लाने की कोशिश में है। भूल को सुधारने से संतुलन नहीं आएगा। इसके लिए बालक को अपने-आप प्रयत्न करके अपनी अपूर्णता को पूर्ण कर लेने दो। अगर बालक को ऐसा करने की छूट होगी, टोका-टोकी नहीं की जाएगी, उसमें अविश्वास न होगा, तो भले ही उसे हजार बार दोहराना पड़े, पर वह पूर्णता प्राप्त करेगा ही करेगा। पूर्णता प्राप्त करना व्यक्ति का स्वभाव है।

अगर इस तथ्य में हमारा विश्वास है तो बालक को भूल करने को मुक्त छोड़ा जा सकता है।

'इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि पूर्ण क्या है, अपूर्ण क्या है, भूल-रहित क्या होता है—ये बातें बालक को बताई ही न जाएं। हम उनके सामने अच्छा आदर्श रखें, पर गलती न निकालें। गलती निकालने का अर्थ यह है कि हम बालक को हलका और अज्ञानी मानते हैं। गलती निकालने का हमारा कारण यह है कि हम उस गलती को सहन नहीं कर पाते। इसमें हमारे अपने धैर्य की कमी है। गलती निकालने से बालक में अपने प्रति अविश्वास और हमारे प्रति क्रोध पैदा होता है। जहां कहीं भी गलती निकाल कर उपदेश दिया जाता है वहां यही होता है।

'पर जहां आदर्श पेश करना हो वहां भी उपदेश जैसी बात न हो, गलती निकालने या किसी व्यक्ति के काम की निंदा करने जैसा कुछ न हो। भई, ऐसा करने से काम सुंदर होता है, ऐसा करने से काम बनता है—इस तरह बताने—कहने से जिस-जिस बालक को जिस-जिस चीज की जरूरत होती है वह राजी-खुशी अपने-आप ले लेता है। उसे पता भी नहीं चलता कि कब तो उसने काम अपने हाथ में लिया था, और कब बिना त्रुटि के उसका काम पूरा हो गया। आंखों के समक्ष सुंदर आदर्श रहता है तो काम के प्रति बालक सहज रहता है और उसको प्रयत्नपूर्वक करते-करते वह उस पर सिद्धि हासिल कर लेता है। उसे अपने आप काम करने में आनंद आता है और उसके भीतर यह विश्वास पैदा होता है कि किसी ने उसे सिखाया भी नहीं था।

'अतएव बालक की गलती बताने की बजाय उसे कोई अलग प्रसंग लेकर बताना चाहिए कि किसी काम को बहुत अच्छी तरह से कैसे किया जा सकता है। इससे बालक अपने आप शक्ति प्राप्त करेगा और अपनी अपूर्णता को दूर हटा देगा।'

•

: १९ :

परीक्षा

परीक्षा के लिए मेरी शाला पूरी तरह तैयार थी। सब विद्यार्थियों ने इतिहास, गणित, भूगोल, भौतिक विज्ञान आदि विषयों में अथाह परिश्रम करके तैयारी की थी। मुझे भरोसा था कि उनमें से कोई फेल नहीं होगा। मन में परीक्षक की लेश मात्र भी चिंता नहीं थी। छात्रों में बड़ा उत्साह था। पूरे वर्ष अच्छा काम किया था और आखिरी दिनों में तो बहुत ज्यादा परिश्रम किया था।

परीक्षक साहब आए। वे नए थे। मैंने उन्हें प्रचलित रीति से वाकिफ किया, कार्य-पद्धति और परीक्षण-रीति से परिचित कराया। उन्होंने गंभीरता-पूर्वक सब जान लिया।

मुझको लगा कि अब वे चौथी कक्षा में सवाल लिखा कर पांचवीं में वाचन करायेंगे, दूसरी कक्षा वालों की अभ्यास-पोथियां इकट्ठी करके उन्हें और छोटी कक्षा के बालकों को घर जाने का आदेश देंगे। अभी परीक्षा का काम इस तरीके से चलेगा।

लेकिन हुआ कुछ भिन्न तरीके से। साहब ने सब बालकों को कक्षा से बाहर जाने का आदेश दिया और मुझे आज्ञा दी: 'पूरी कक्षा को बाहर लाइए।'

मैं अचंभे से देखता रहा, पर आज्ञा शिरोधार्य की। शाला को काम करने वाली बहन से बाहर बुलवाया।

साहब बोले: 'कचरा सामने लाया जाए।'

कचरे का डिब्बा लाया गया। साहब ने उसको इस तरह गौर से देखा जैसे गणित के सवालों को देखते हों, और परीक्षा-पत्रक में कचरे के सामने शून्य अंक रख दिया।

साहब ने मुझसे कहा : 'चलिए, कक्षा में घूम आएं।'

साहब ने आखें फाड़-फाड़ कर तमाम दीवारें देखी, कोने-कचौने और खिड़की-दरवाजे देखे। परीक्षा-पत्रक में लिखा : स्वच्छता शून्य अंक।'

तब साहब ने कहा : 'इस कमरे में बैठिए।' मैं और दोनों वे बैठ गए।

बाहर लड़कों ने कोलाहल शुरू कर दिया। जबरदस्त शोर हुआ। अध्यापक उनको चुप करने की कोशिश में थे।

साहब ने तीसरे खाने में लिखा : 'शांति=2 अंक, दो अंक कम।'

मैं तो भौंचक्का रह गया। परीक्षक साहब नए थे। नई परीक्षण विधि में निष्णात थे। बंबई विश्वविद्यालय के बी. ए. थे। नए थे इसलिए बातचीत करने की छूट नहीं थी। जो-जो त्रुटियां उन्होंने बताई थी, वे सौ प्रतिशत सही थीं।

मैं आकुल-व्याकुल हो रहा था, पर करता क्या ? सोचा, अब इतिहास, भूगोल आदि विषय झटपट ले लें तो ठीक रहे, गणित के प्रश्न लिखाएंगे तो सब के सब सही निकलेंगे।

पर साहब ने तो पानी पीने के बर्तन और ढक्कन आदि मंगवाए और देखे। अंक दिये=5 याने पांच अंक कम।

परीक्षक की मुखमुद्रा शांत व गंभीर थी, क्रोध न था। इसलिए मैं बहुत उकता रहा था।

अंत में साहब बोले : 'लड़कों को अंदर बुलाओ।' मैंने मन ही मन संतोष अनुभव किया : 'उफ् ! अब ठीक-ठाक होगा, अब चैन मिलेगा।'

मैंने कहा : 'कक्षावार बैठ जाओ, पाटी-बरता तैयार कर लो। जिसे बुलायें वह टेबल के पास आता जाए।'

पर मुझे निराशा हाथ लगी। साहब उठ खड़े हुए और कक्षा में घूमे। बालकों की टोपियां देखीं, कोट देखे, पौशाक देखी, बटन देखे, बाल, नख, हाथ, पैर, मुंह व नाक देखे, दांत और आंखें देखीं। मेरी आंखें वह सब देख ही रही थी। मैंने सोचा कि इस विषय में पच्चीस अंक कम मिलने चाहिए।

परीक्षक ने निरीक्षण पूरा किया और पत्रक में=20, याने बीस अंक कम लिखे।

सुबह का समय पूरा हो रहा था। हंसकर साहब ने कहा : 'आज तो छात्रों को छोड़ दीजिए, कल वापिस बुलाएं।'

दूसरा दिन हुआ और लड़के आए। सब परीक्षा देने को अधीर हो रहे थे।

परीक्षक महोदय ने परीक्षा लेनी शुरू की। इतिहास, भूगोल आदि तमाम विषयों की विधिपूर्वक परीक्षा ली। एक का एक विद्यार्थी पास हुआ। सबों को बहुत-बहुत अंक मिले थे। परीक्षक साहब बोले : 'पढ़ाई का काम अच्छा हुआ है, लड़कों ने अच्छी मेहनत की है।'

मेरे चेहरे पर मुस्कान नहीं थी। बीते हुए कल का परीक्षा-परिणाम मेरी आंखों के सामने था।

साहब ने दो तरह के परीक्षा-पत्रक भरे :

(1) जीवन की परीक्षा : मुख्य परीक्षा : शून्य परिणाम।
(2) पढ़ाई की परीक्षा: गौण परीक्षा : शत प्रतिशत परिणाम।

पत्रकों के नीचे दस्तखत करके उन साहब ने उन्हें उच्चाधिकारी को भिजवा दिया।

•

: २० :

दो शालाओं का अवलोकन

(1)

एक बार मैं एक कन्या विद्यालय में गया। चालीस-से पचास के लगभग छात्राओं की कक्षा में उनके अध्यापक से मैंने पूछा : 'इतनी सारी छात्राओं को कैसे संभाल लेते हैं आप ?' वे बोले : 'इसमें क्या है ? एक तो ये लड़कियां हैं, जरा-सी आंखें दिखाईं या एकाध को हाथ जमाया कि बस चुप ! फिर क्या मजाल, कि पूरी कक्षा में कोई गड़बड़ या चूं चां करे।'

अध्यापकजी जब अपनी कक्षा के ऐसे उत्तम प्रबंध की बात बता रहे थे, तो वे मुस्कुरा रहे थे।

इस पर मैंने कहा : 'लेकिन यह तो भय वाली व्यवस्था हुई। अगर उन पर कोई डर न हो तो पता लगे।'

अध्यापकजी बोले : 'पर यूं डर न दिखाएं तो कैसे चले ! यह बारह घरों की मुसीबत शाला को सिर पर न उठा ले ?'

'लेकिन सचमुच क्या आप ऐसा मानते हैं कि इस तरह डराने से लड़कियां अनुशासित हो जाती हैं ? क्या सचमुच ये शांति से बैठने वाली, हुकम मानने वाली, गड़बड़ न करने वाली बन जाती हैं ?'

'यह मुझे नहीं पता। मुझको तो मेरी कक्षा से काम है। घर जाकर ये चाहे जो करें। मेरी कक्षा में अगर मैं अनुशासन न लाऊं तो पढ़ाने के सांसे पड़ जाएं। पढ़ाने के लिए मेरी व्यवस्था करने की यह विधि सही है, ऐसा मेरा विश्वास है।'

(2)

एक बार मैं एक बाल-विद्यालय में गया। तीस से चालीस लड़कों को शांति एवं अनुशासन के साथ घूमते-फिरते व काम-काज करते देखकर मैंने अध्यापक से पूछा : 'पानी के रेले जैसे इन लड़कों को आप कैसे संभालते हैं ? इनमें से एक-एक बालक एक-एक अध्यापक को रोके रखने जैसा है। मार-पिटाई कैसीक करनी पड़ती है ? क्या फुसलाना अनुकूल पड़ता है ?'

अध्यापकजी बोले : 'आंखें दिखाने, मार-पीट करने या फुसलाने में मेरी आस्था ही नहीं है। सच मानें तो लड़के ऊधमी हैं ही नहीं। जब इन्हें पानी का रेला ही कह दिया, तो सचमुच इनमें पानी की धारा जैसा ही बल है और इसीलिए इन्हें स्वयं व्यवस्थित किया जा सकता है। यहां हमने बालकों के लिए अनुकूल व रुचिकर प्रवृत्तियों की व्यवस्था की है। जिसको जो पसंद हो करता है, और जब इच्छा हो, तभी करता है। प्रत्येक बालक अपने मनपसंद के काम में लगा रहता है, फिर वह भटकने, झगड़ने या मस्ती करने को खाली नहीं रहता। जब वह अपना काम करके मुक्त होता है तब वह उलटा आनंद-पूर्वक दूसरे बालकों के साथ मिलता-जुलता, मौज उड़ाता है। बच्चे एक पंक्ति में बैठे रहें, घूमें नहीं, चुपचाप पढ़ते रहें, इसे मैं अनुशासन नहीं मानता।'

●

: २१ :

छुट्टी बंद

मास्टरजी सवाल पूछने लगे और रमण जवाब न दे सका। उससे उत्तर देते न बना।

पिछली रात वह मेहमान के साथ सिनेमा देखने गया था। सुबह देरी से उठा इसलिए सबक याद नहीं किया।

मास्टरजी शिक्षाशास्त्र पढ़े हुए थे। 'सबक करके न लाने वाले विद्यार्थी को शाला समय के बाद रोक कर रखना चाहिए। इससे वह उकताहट अनुभव करेगा और अगले दिन पाठ याद करके लायेगा।' मास्टरजी ने इस सूत्र का प्रयोग किया।

विद्यालय बंद होते समय मास्टरजी बोले : 'रमण की घंटे भर के लिए शाला से छुट्टी बंद। चपरासी इस पर नजर रखेगा। वह देखेगा कि यह कहीं भाग न जाए।'

रमण को घंटे भर की कच्ची जेल मिली।

वैसे तो रमण होशियार था ; उसे पाठ आते थे। आज भी अगर उसे मौका मिला होता तो वह पाठ याद कर लाता। लेकिन एकाध बार वह नहीं कर सका, इसके लिए शिक्षा-शास्त्र के अनुसार उसे सजा मिली।

मास्टरजी घर गए ; लड़के भी गए। रमण अकेला रह गया।

उसे याद आया कि घर पर मेहमान के पुत्र उसकी इंतजार कर रहे होंगे। आज तो सबों को सरोवर देखने जाना था : सरोवर देखने का समय हो गया था।

रमण के पास से होकर कई साथी छात्र खेल के मैदान की ओर गए थे। रमण उन्हें देखता रह गया। उठ कर उनके साथ जाने का उसका मन हुआ, पर उसकी नजर चपरासी पर गई।

रमण बार-बार घड़ी देखता। 'कब एक घंटा पूरा हो और कब छूटूं। मेहमान घूमने चले गए हों तो जाकर गली में खेलूं, नहीं तो माताजी के मंदिर में जाकर उनके शृंगार में भाग लूं।' रमण को माताजी के तोरण और शृंगार का काम करना आता था, और वह अक्सर किया करता था।

रमण मन ही मन मास्टरजी पर खीझ रहा था। कहने लगा : 'कैसा गंदा मास्टर है ! कितना जोर-जोर से बोलता है। चलना भी नहीं आता। कैसी बेडौल पगड़ी बांधता है !'

बोलते-बोलते जब थक गया तो उसने पाटी पर एक चित्र बनाया—एक व्यक्ति का : एक आंख से भैंगा और एक हाथ से रहित। चित्र के नीचे उसने लिखा : 'यह हरिया काना और भैंगा।' फिर वह बोला : 'हरिया काना, हरिया भैंगा।'

उसके मास्टरजी का नाम हरिशंकर था।

फिर उसने पाटी पर थू-थू करके थूका और मास्टर को मसल डाला।

मुश्किल से बीस मिनट बीते थे। वह सोचने लगा : 'किसलिए मुझे रोका गया ? गृहकार्य करता भी कैसे ? मास्टर अगर सिनेमा देखने जाए तो फिर क्या वह अगले दिन पाठ करके ले आएगा ? उसका बेटा जब जाता है तो वह तो पाठ करके नहीं लाता। तब तो मास्टर कहता है : 'अच्छा, कल साथ ही दिखा देना।' मास्टर अगर मुझसे कहे तो आठ दिनों का काम एक-साथ कर लाऊं। मुझे कौनसा नहीं आता ? इस महीने तो मैंने कक्षा में दूसरा नंबर पाया है।'

रमण उकताने लगा। उसने किताब निकाल कर फैंक दी। 'जा, नहीं पढ़ना ! तुझे पढूंगा तो गृहकार्य करना पड़ेगा ना ! कल से शाला में ही नहीं

आऊंगा। छोड़ दूंगा। भले ही पापा मारें। दूसरे कहां पढ़ते! अफ्रीका चला जाऊंगा।'

रमण को कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उसने पत्थर इकट्ठे किये और जाली पर फेंकने लगा। चपरासी ने आकर उसे रोका, तो शांत होकर बैठ गया। घड़ी में 5 बज कर 35 मिनट हुए थे। अभी बहुत समय बाकी था।

रमण ने भाग जाने का इरादा किया। धीमे-धीमे चल कर जाली के पास पहुंचा और नीचे झुक कर भागने वाला ही था कि चपरासी ने कान पकड़ा: 'हें! भाग छूटना है क्या?'

रमण वापिस शाला के कमरे में आकर बैठा।

इतनी देर में वह तीन बार पेशाब कर आया, बीस बार ऊंचा-नीचा हुआ, छह-सात बार शाला के चबूतरे के चारों ओर घूमा।

आखिर में रमण को कुछ न सूझा तो लकड़ी लेकर गड्ढा खोदने लगा। थोड़ा खोदा, उसमें पत्थर ठसाये और उन पर कूदा।

चपरासी ने पूछा: 'क्या कर रहा है बे?'

बोला: 'कुछ नहीं, यूं ही!' फिर वह मन ही मन बोला: 'यहां तो हरिये को दबाया है।'

छह बजने में पांच मिनट बाकी थे। 'अब छूटूंगा' उसकी आंखों में तेज आ गया, चेहरा जगमगा उठा। किताबें हाथ में लीं, और छह के घंटे लगे कि दौड़ कर शाला से बाहर सड़क पर, और वहां से सीधे घर।

मास्टरजी ने रमण को नियमानुसार और शास्त्रानुसार शाला में रोका था, और रमण क्या कर रहा था, वह हमने देखा। क्या उसे दंड मिला? क्या उसे सीख मिली? क्या उसका शिक्षा के प्रति अनुराग जागा?

शिक्षक के प्रति उसकी भावना कैसी बनी? पाठ दूसरे दिन बराबर करके लाए, इसके वास्ते यह सजा थी, या न करके लाने के लिए? पाठ तो करके लाया ही नहीं था, वह बात तो गई-गुजरी। अगले दिन पाठ न करके लाने का क्या कारण था? तब किसलिए नाहक ही उसने परहेज किया? हमें मास्टर हरिशंकरजी से और शिक्षाशास्त्र से इनका उत्तर पूछना है।

●

: २२ :

मेरी शाला में नहीं चलेगा

मेरी शाला में शिक्षाशास्त्र की किताबों वाला विशाल पुस्तकालय नहीं होगा तो चलेगा, पर मांग-तांग कर भी शिक्षा की पुस्तकों में से अगर कुछ न पढ़ा गया होगा, तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला का भवन आलीशान पत्थरों का बना और गच जड़ा नहीं होगा तो चलेगा, पर उसके आंगन में अगर गड्ढे पड़े हुए होंगे या वह चूने-माटी के पलस्तर से रहित होगा तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला की दीवारें रंग से पुती हुई खूबसूरत न होंगी तो चलेगा पर अगर उन पर मकड़ी का एक भी जाला होगा या धूल चढ़ी होगी तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में सुन्दर दरी या गलीचे बिछे हुए नहीं होंगे तो चलेगा, पर अगर कहीं भी धूल-कचरा होगा और वह हमारे पैरों में आ रहा होगा तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में शिक्षण संबंधी थोक-बंद उपकरण न हों तो चलेगा, पर मेरी शाला में भले ही थोड़े उपकरण क्यों न हों अगर उनका सचमुच में उपयोग न होता होगा तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में बड़ा-सा बाल-पुस्तकालय न हो तो चलेगा, पर भले ही हस्तलिखित क्यों न हो बालकों द्वारा उल्लास उमंग के साथ पठनीय पुस्तकें अगर नहीं होंगी तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में मैं बहुत पढ़ा-लिखा पंडित न होऊं तो यह चलेगा, पर अगर मैं बालकों के प्रति सम्मान-भाव रखने वाला, उनके विकास का अर्थ समझकर उन्हें वातावरण प्रदान करने वाला न होऊं तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में मैं बालकों को पढ़ाने या प्रति पल उन्हें ज्ञानी बनाने के लिए भले ही न दौड़ूं, तो यह चलेगा, लेकिन अगर मैं उनके काम में बाधक बनूं, उनको बार-बार डरा-धमका कर पढ़ाने बिठाऊं तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में बालक दो पल पढ़ेंगे और दो पल खेलेंगे तो यह चलेगा, परन्तु अगर बालक कारखाने के मजूरों की तरह दिन भर काम करते ही रहें और मैं उनके ऊपर सख्त नजरें रखे रहूं तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में बालक मेरे गले न पड़ते हों, या मेरे दोस्त बन कर मेरे आगे-आगे न चलते हों, तो यह चलेगा, पर अगर वे मुझसे दूर-दूर भागते हों, और मुझे देख कर डरते हों तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में बालक कम पढ़ेंगे तो चलेगा, धीमे-धीमे पढ़ेंगे तो चलेगा, परन्तु अगर चीख-चीख कर जोर-जोर से पढ़ते हुए उकता जाएंगे या निस्तेज हो जाएंगे, तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला में बालक मर्जी-मुताबिक बैठें, इच्छा हो तो पढ़ें या चित्र बनाएं तो यह चलेगा, लेकिन किसी के आने पर दिखावे के लिए ही अगर वे लिखेंगे या चित्र बनायेंगे, तो यह नहीं चलेगा।

मेरी शाला के बालक अगर समय पर काम पूरा न हो सका तो शांति से मुझे आकर मना कर देंगे, अथवा अगर धीमी गति से काम करेंगे तब भी चलेगा, पर कदाचित मैं मारूंगा या डांटूंगा तभी दौड़-दौड़ कर काम करेंगे, तो यह नहीं चलेगा।

●

: २३ :

खिड़की का काच तोड़ डाला

रघु चपरासी ने साहब से आकर शिकायत की : 'जीवन ने खिड़की का काच तोड़ डाला।'

जीवन को साहब के सामने लाकर खड़ा किया गया। जीवन सीने पर हाथ बांधे अदब से मुंह नीचा किये साहब के सामने डरता-डरता खड़ा था।

साहब ने उससे कहा : 'जीवन! इसके लिए तुझे सजा मिलेगी। चार डंडे खाने पड़ेंगे। सब कक्षाओं में तुझे घुमाया जाएगा और सबों के सामने एक-एक डंडा पड़ेगा।

जीवन कांपता-कांपता यह बात सुनता रहा।

जरा सोच कर साहब जीवन से फिर कहने लगे : 'जीवन तुझको सजा देना मेरे लिए जरूरी हो गया है। पर मुझे यह क्यों करनी पड़ रही है, यह बात तुझे समझानी भी चाहिए।'

राघवजी समझदार मास्टर थे। नए जमाने के थे। ट्रेनिंग कॉलेज से शिक्षाशास्त्र के विचारों को उन्होंने बहुत अच्छी तरह से हृदयंगम किया था। उनकी मान्यता थी कि बालक को सजा देने का कारण समझाया जाना चाहिए, अन्यथा सजा देना निष्फल जाता है।

मास्टर साहब कहने लगे : 'देख जीवन, अगर यह काच तुम्हारा अपना होता तो तेरे पिता तुझे पीटते। जबकि यह शाला का काच है, इसलिए यह हमारी अपनी सम्पत्ति तो है नहीं। परायों की चीजों को तोड़ना तो गलत काम ही कहा जाएगा ना।'

जीवन बोला : 'लेकिन साहब...'

राघवजी ने बीच ही में कहा : 'लेकिन-वेकिन बाद में; एक बार जो मैं कह रहा हूं वह सुन ले। इस तरह से अगर लड़के शाला का काच तोड़ेंगे तो कैसे काम चलेगा? काच तूने तोड़ा, इसके हर्जाने के पैसे तो तेरे पिता को भरने ही पड़ेंगे। ऐसा काम तू फिर से न करे इसकी सजा तो तुझे दी ही जानी चाहिए। इससे दूसरों को भी सबक मिलेगा कि काच तोड़ने का क्या नतीजा होता है। समझे? इसी कारण से तुझे दंड दिया जा रहा है। तुझ से हमें कोई द्वेष-वैर नहीं है। यह काम करना ही महत्त्व की बात है।'

मास्टरजी पूरी बात कह कर चुप हो गए और बोले : 'अब बता तू क्या 'लेकिन-वेकिन' कर रहा था?'

जीवन बोला : 'यह सब बिल्कुल सही है। आपने मुझे सजा का कारण बताया, सो ठीक है, पर काच टूटा कैसे. यह तो आप सुनेंगे ना? काच टूटने का कारण तो आप देखेंगे ना?'

शिक्षक : 'क्या कारण था? चाहे जो कारण हो, काच तुम्हीं ने तोड़ा है ना?'

जीवन : 'जी नहीं, काच मैंने नहीं तोड़ा, बल्कि वह टूट गया।'

शिक्षक : 'यह भी ठीक है। काच के टूटने की बात तो मूल में सही ही है ना?'

जीवन : 'पर वह कैसे टूटा, यह तो आपको देखना ही चाहिए। फिर चाहे आप मुझे सजा दीजिए!'

शिक्षक : 'अच्छा, बोल! क्या कहना है तुझे?'

जीवन : 'यह बात सच है कि मेरा सिर काच से टकराया और काच टूटा। पर असल में रावजी मुझ में आकर गिरा और यह घटना घटी।'

शिक्षक : 'लेकिन रावजी और तुम यों अंधे होकर बेहोशी में कहां भागे जा रहे थे कि तभी रावजी तुझ से आ टकराया?'

जीवन : 'हम दोनों जोरों से दौड़ते जा रहे थे।'

शिक्षक : 'कहां जा रहे थे?'

जीवन : 'मैं संडासी लेने और रावजी लकड़ी लेने।'

शिक्षक : 'इनकी क्या जरूरत पड़ गई?'

जीवन : 'हमारी कक्षा में बिच्छू निकला था और शिवजी मास्टरजी ने कहा कि अरे कोई संडासी और दबाने को लकड़ी लाओ। मैं दौड़ा और मेरे पीछे-पीछे रावजी दौड़ा। रावजी जोर से दौड़ते-दौड़ते मुझ में आ गिरा और जल्दबाजी में मैं खिड़की से जा टकराया; और काच ढीला होगा या कौन जाने, वह निकल कर नीचे जा गिरा और टूट गया।'

राघवजी मास्टर विचार में खो गए : 'अब क्या करें? उलझन हो गई।' बोले : 'जरा ध्यान रख कर तो दौड़ना था?'

जीवन : 'मैं तो बिल्कुल ठीक ही चला जा रहा था, लेकिन पीछे से रावजी का धक्का लगा और मैं खिड़की से जा टकराया। उल्टे खिड़की से मेरा सिर टकराया और मेरे माथे पर चोट आई। देखिए यह गांठ की सूजन?'

राघवजी : 'पर तुम रावजी की शिकायत क्यों नहीं लेकर आए? और रावजी भी कैसा है—बेअक्ल और जल्दबाज'!

जीवन बोला : 'पर इसमें वह क्या करे? बिच्छू के लिए लकड़ी लाने की हड़बड़ी में वह मुझसे टकरा गया। उसने कोई जान-बूझ कर धक्का थोड़े ही मारा था!'

राघवजी और भी उलझन में पड़ गए। बेचारे का सिर फूटा फिर भी जीवन रावजी से लड़ता नहीं। बल्कि कहता है कि उतावली में रावजी क्या करता? तब मुझे भी क्या ऐसा नहीं करना चाहिए? शाला का काच बड़ी चीज है या जीवन का सिर? और काच व सिर किसलिए टूटे? शिवजी

मास्टरजी ने कहा था कि संडासी और लकड़ी आओ; लड़के दौड़े। इसमें दोष किसका ?

राघवजी बोले : 'जाओ जीवन ! तुझ को सजा नहीं दी जा सकती। जाओ, ऐसे हो ही जाता है कभी-कभी।' फिर वे मन ही मन बोले : 'सजा देने से पहले सजा का कारण समझाते-समझाते सजा न देने का कारण ठीक ही मेरी समझ में आया। यूं तो कितनी ही गलत सजाएं हो जाती होंगी। आइंदा सजा देने का कारण पहले समझाया जाना चाहिए।'

: २४ :

इस जनू का क्या करें ?

घर के बीच वाले कमरे में दो-चार जने बैठे-बैठे बातें कर रहे थे।

शंकरलाल : 'मास्टरजी ! इस अपने जनू का क्या करें ? इसे आपकी शाला में जाना पसंद नहीं। यहां से धकेल कर वहां भेजते हैं तो रास्ते में उन भीमजी की दुकान पर जा बैठता है।'

राधा : 'और दूसरी बात यह है कि घर में किसी का बताया काम करता नहीं और भीमजी जो कह दें सो झटपट कर देता है। पाठ याद करने को कहो तो जैसे किसी ने सिर में दे मारा हो। यही नहीं, यूं ही जरा साग काटने या मुन्नी को रखने की कह दें, तो वह भी इसे पसन्द नहीं।'

शंकरलाल : 'बात तो ऐसी ही है। दिन भर यही बातें करता रहता है कि भीमजी काका यूं चित्र बनाते हैं और उनमें यूं रंग भरते हैं। अगर कोई उसकी बात न सुने तो अकेले-अकेले बड़बड़ाता रहता है।'

मास्टरजी : 'तो फिर चित्रकार बनना इसे पसन्द होगा। अभी से आप इसे भीमजी काका के यहां भेज दीजिए। वही इसकी शाला है।

राधा : 'अरे, चित्रकार बनने से कौन से हमारे दिन फिर जाएंगे ? ऐसा काम क्या हमारे लड़कों के करने लायक है ? देखो ना, हमारे सुन्दरलाल भाई का पुत्र बी. ए. में अव्वल आया है और अब वकील बनेगा। संतोक बहन का पुत्र गत वर्ष डॉक्टर बन गया था। अच्छी-खासी पगार मिलने लगी है उसे।'

शंकरलाल : 'मास्टर साहब ! कैसे ही करके आप इसे पढ़ने की ओर डाल दें। आपको ठीक लगे तो रोजाना पढ़ाने आ जाइए। सोचता हूं इस पर

ऐसा ध्यान रखूं कि यह भीमजी के वहां न जाए; और शाला से तो इसे भागने ही न दीजिए। एक बार भटकने की आदत पड़ गई तो फिर बाजी हाथ से निकल ही जाएगी।'

मास्टर : 'देखिए। मेरा भी इसमें इन्कार कहां है! लड़कों को पढ़ना तो चाहिए ही। आप जैसों के बच्चे तो बड़े-बड़े अफसर और कारबारी बनें तभी शोभा दे। चित्रकार बनने में क्या धरा है?'

राधा : 'आप तो श्रीमान्, इसे अच्छी तरह से अपने जिम्मे संभाल लें। वैसे तो यह होशियार है। बस, शाला जाने में ही इसका मन नहीं है।'

मास्टर साहब के साथ उनका एक मित्र भी था। वह पहली बार वहां आया था। ये सारी बातें वह सुन रहा था। आखिर में वह बोला : 'क्षमा करें, यद्यपि मुझे आपकी इन बातों में बोलना नहीं चाहिए पर मुझे लगता है कि आपके सामने अपना अनुभव रखूं।'

राधा और शंकरलाल का उसकी तरफ खास तौर से ध्यान आकृष्ट हुआ। मास्टरजी ने उनका परिचय दिया : 'ये मेरे पुराने मित्र हैं। बड़े अच्छे गायक हैं। अनेक तरह के वाद्य-यन्त्र बजाते हैं। अभी इनके मुकाबले का गायक और कोई नहीं है।'

राधा बोली : 'गायक हैं! मैंने तो सोचा था कि कोई अफसर होंगे। इनकी वेश-भूषा और बोलने का ढंग ऊंचे घरानों जैसा है।'

मास्टर : 'ये ऊंचे घराने के ही हैं। इनका एक भाई आई.सी.एस. है, दूसरा डॉक्टर है, तीसरा बड़ौदा राज्य में सूबेदार है और खुद प्रसिद्ध गायक।'

शंकरलाल : 'प्रसिद्ध गायक! कहीं रमणलाल वैद्य तो नहीं हैं ये?'

मास्टर : 'जी हां, ये रमणलाल वैद्य ही हैं।'

शंकरलाल और राधा ने प्रो. वैद्य की कीर्ति तो सुन रखी थी, देखा आज ही था। देखकर बहुत अचंभा किया।

राधा बोली : 'पर श्रीमान्! आपके भाई बड़े-बड़े अफसर बने और आप सिर्फ गायक रहे?'

शंकरलाल : 'हां, आपको पूरा गुजरात जानता है, यह सच है, पर आखिर तो आप गायक ही हैं। आपके पास पैसों की कहां कमी थी कि पढ़ाई न कर पाते? विदेश जाकर बेरिस्टर या कुछ और बन सकते थे।'

रमणलाल : 'लेकिन बहनजी! मेरी तो गायक बनने में ही बहुत रुचि थी। पूरा गुजरात मुझे न जानता तब भी मैं सुखी ही रहता। बेरिस्टर या डॉक्टर तो मैं बनता भी कैसे? वैसे तो मेरे माता-पिता ने, जिस तरह आप जनू की चिंता कर रहे हैं वैसे ही, मेरी बहुत चिंता की थी। उन्होंने मेरे पीछे परिश्रम भी बहुत किया, लेकिन अंत में...'

राधा : 'आप भी क्या जनू की भांति पहले से ही किसी गवैये के यहां जाकर बैठते थे?'

रमणलाल : 'यही तो। वे मुझे सबसे अधिक प्रिय लगते थे। उनका गीत सुनते ही मुझे कुछ का कुछ हो जाता था। घर से शाला के लिए निकलता और सीधा उस्ताद के यहां जा बैठता। उस्ताद मुसलमान थे।

शंकरलाल : 'लेकिन आपको वहां जाने से किसी ने रोका नहीं?'

रमणलाल : 'रोका? अजी रोकने के लिए मेरे साथ कई तरकीबें लड़ाई गईं। पढ़ने के लिए मुझे रोज पैसे दिये जाते। ट्यूशन रखा गया, मास्टर आता। दूसरे लड़कों का उदाहरण दिया जाता। आपसे सच कहूं, मेरा मन उनमें से एक भी बात में नहीं टिकता। मुझे उस्ताद के यहां जाने की सख्त मनाही थी। एक-दो बार छिपकर गया तो मार भी पड़ी।'

शंकरलाल : 'तब गायक कैसे बने?'

रमणलाल : 'जब सारे रास्ते बन्द हो गए, तो करता भी क्या? जैसा-कैसा ही सही, मैं पढ़ने लगा। पर किसी एक भी विषय में मुझे पूरी तरह से आता-जाता नहीं था, इसलिए पिता की जान-पहचान के कारण जैसे-तैसे अंग्रेजी की चौथी कक्षा तक धक्का खाते हुए पहुंच गया। मेरे भाई तो फटाफट पढ़ते ही जाते थे। वे शाला में अव्वल आते, इनाम लाते। पर मुझे उन लोगों की कत्तई ईर्ष्या नहीं थी। मुझे बस यही पसन्द नहीं था कि संगीत सुनने से इन्कार किया जाए।'

राधा : 'फिर ?'

रमणलाल : 'फिर मुझे पढ़ने को बड़ौदा भेजा गया। वहां की बोर्डिंग में दाखिल हुआ और वहां अपने राम अपनी इच्छा के अनुसार काम करने लगे। पूरे वर्ष कुछ नहीं पढ़ा, बस एक उस्ताद की चरण-सेवा करके थोड़ा-बहुत गाना-बजाना सीखा। परीक्षा में तो फेल ही होना था। इसलिए माता-पिता को मुंह कैसे दिखाता ! वहां से भागा और उज्जैन पहुंचा। वहां एक उस्ताद के यहां नौकर बन कर रहा। पांच बर्ष तक उनके पास शिक्षा पाई। उस्ताद बहुत भला और खानदानी था। मैं उनका हुकम पूरा उठाता। यूं कह दो कि उन्हें थूकना होता तो मेरी हथेली हाजिर थी। गुरुजी मुझ पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे संगीत का गहरा ज्ञान दिया।'

राधा : 'अच्छा ऐसा ? तब तो शुरू से ही आपके प्राण संगीत में रमे हैं।'

रमणलाल : 'इसलिए अगर पहले से ही मुझे संगीत में डाला होता तो मेरे कितने ही वर्ष बेकार न जाते, और आज मैं जो कुछ हूं, उससे भी कहीं अच्छा गायक बनता।'

राधा : 'पर आपके भाई तो अच्छे पढ़े-लिखे अधिकारी और आप...'

रमणलाल : 'और मैं क्या अनपढ़ हूं ? संगीत क्या विद्या नहीं ? यह तो ऐसी विद्या है कि मेरे जीवन का अमृत समझ लीजिए। यह मेरे लिए आनन्द और चैन का प्रथम साधन है।'

शंकरलाल : 'लेकिन इसमें आमदनी.... ?'

मास्टर : 'शंकरलालजी ! रमणलालजी के संगीत आयोजन की तो टिकटें भी नहीं मिलती। इनका संगीत सुनने को लोग तरसते हैं !'

राधा : 'पर ये क्या अंग्रेजी पढ़े-लिखे और कोई अधिकारी हैं ? क्या इनके आदेश का महत्त्व है ?'

मास्टर : 'अंग्रेजी तो खैर इन्हें यूं ही आ गई। दो वर्ष तक ये यूरोपीय संगीत सीखने गए थे तब अंग्रेजी आ गई।'

राधा : 'हें ? यूरोप भी हो आए ? वहां का संगीत आता है ? तब तो बड़े गायक हैं !'

रमणलाल : 'बड़ा तो खैर छोड़िए। पर गायक जरूर हूं। मैं आपसे यह कहना चाहता था कि जनू अपने सही रास्ते पर है। इसे चित्रकारी पसंद है तो यही करने दीजिए ना ! क्यों दूसरा काम करवा रहे है ? बहुत दबाव डालेंगे तो बेचारा चित्रकारी भी नहीं सीख पाएगा और पढ़ेगा भी नहीं। दुखी हो जाएगा। या फिर टेढ़ा होगा तो तेरी तरह भटक कर चित्रकार बनेगा। पर वह कितना बड़ा और लम्बा रास्ता होगा ?

शंकरलाल : 'तब हम इसे चित्रकार बनायें, तो ?'

मास्टर : 'शंकरलालजी ! रमणलाल जी ठीक कहते हैं।'

राधा : 'ठीक, तो भले ही चित्रकार बने। फिर हम इसे किसी राज्य में चित्रकार बनवा देंगे। राजकीय पद तो मिलेगा।'

रमणलाल : 'बाद की बात बाद में !'

●

: २५ :

बाल-वाचन

आजकल बाल-साहित्य अच्छी तादाद में प्रकाशित होने लगा है। कल तक हम बालकों को जितनी पुस्तकें उपलब्ध कराते थे, आज उससे कहीं अधिक पुस्तकें उपलब्ध करा देते हैं। इस खर्च को हमने वाजिब ही नहीं उपयोगी भी माना है। बालक भी एक के बाद एक पुस्तकें उत्साह-उमंग में पढ़ते जाते हैं। पुस्तकें पढ़ते जाते हैं और ज्ञान एवं आनन्द लूटते जाते हैं। कैसे अच्छे दिन आए हैं।

पर हम बालकों को मात्र पुस्तकें दिला कर ही मुक्त नहीं हो जाते। पैसे खर्च करना आसान काम है। पैसों का समुचित उपयोग किया है या नहीं, उसका ध्यान न रखने से खर्च किये गए पैसे पानी में चले जाते हैं। यही नहीं वे नुकसान भी करते हैं। पैसे खर्च करने के बाद उन्हें उगाने का काम शेष रह जाता है।

अतः जो-जो बाल-साहित्य हम बालकों के लिए खरीदें, पहले उसे स्वयं पढ़ लें। 'देखना' ही पर्याप्त नहीं है, 'पढ़ना' जरूरी है। इधर बालक पढ़ने में अधीर बने हैं। पढ़ने का काम अपने आप में आनन्ददायी है। पर कैसा वाचन इनके हाथ में आता है और आना चाहिए, यह हमें देखना है। वाचन का काम है आनंद देना और पाठक पर अच्छा-बुरा प्रभाव डालना। अतः जिस तरह से हमारे यहां नियम होता है कि घर में किसे आने देना और किसे न आने देना, उसी तरह से किस तरह का वाचन बालक के हाथ में रखना और किस तरह का न रखना, इस संबंध में भी हमें जाग्रत रहना चाहिए। बालकों के हाथ में बाल-साहित्य रखने से पूर्व हमें स्वयं को देख लेना चाहिए।

अभी तो गुजरात में बाल-साहित्य की शुरुआत ही हुई है, अतः खराब साहित्य प्रकाशित होने में कदाच काफी समय लगे और अगर जागृति रहेगी तो वैसा साहित्य कभी सामने नहीं आएगा। फिर भी हमारा दायित्व तो पहले से ही तय है और हमें उसको कभी विस्मृत नहीं होने देना चाहिए। घर में आने वाली प्रत्येक पुस्तक हमें पढ़ लेनी चाहिए। ऐसा करेंगे तो हम बाल-साहित्य की कद्र करना सीखेंगे। बाल-साहित्य खरीदने से बालकों और साहित्यकारों को क्रमशः वाचन का तथा धन का लाभ प्राप्त होता है पर अगर इससे साहित्य का सम्मान बढ़ता है तो सत्साहित्य का विकास भी होता है और नीरस साहित्य का ह्रास भी होता है। आज जबकि बाल-साहित्य के प्रति रुचि बढ़ी है, तब अलग-अलग दृष्टि से अगर बाल-साहित्य का प्रकाशन हो तो उसकी योग्य रीति से कद्र करके हम माता-पिता उसके स्थायीत्व-अस्थायीत्व का प्रस्ताव कर सकते हैं।

जब हम स्वयं बाल-साहित्य पढ़ेंगे तो हमें भी एक और लाभ होगा। लेखक बालकों को सामने रख कर लिखते हैं, और उन्हें लिखना भी चाहिए। पर उनके लिए क्रम से लिखने वाला हर कोई लेखक सही क्रम नहीं रख सकता। प्रत्येक बालक की कक्षा दूसरे से भिन्न होती है। अतः यह बात अनुमान से ही कही जा सकती है कि अमुक से अमुक उम्र के बालकों को अमुक-अमुक पुस्तकें दी जाएं। पर उनकी अधिक बारीक पड़ताल तो हम माता-पिता ही कर सकते हैं। हम लोग बालकों के बीच रहते हैं। हम उनकी शक्ति को जानते हैं, अतः अगर हम स्वयं वे पुस्तकें पढ़ेंगे तो हमें ही पता लग जाएगा कि पहले कौन-सी पुस्तकें ली जाएं और कौन-सी नहीं। बालकों के आवश्यक वाचन-क्रम को हमें ही जानना होगा। फिर उसी अनुपात में अगर हम पुस्तकें देंगे तो वे अधिक फायदेमंद होंगी।

आज के बाल-साहित्य को हमें इसलिए भी पढ़ना है कि उससे हम स्वयं ज्ञान-समृद्ध हों। 'यह तो बच्चों का साहित्य है'—ऐसा कह कर उसे बालकों के लिए ही एक तरफ नहीं रख देना चाहिए। हम सबकी साहित्यिक रसज्ञता

व समझदारी कहां है इसका हमें अता-पता तक नहीं। बहुत से लोग अब भी बाल-साहित्य पढ़ कर बालकों की भांति स्वयं लाभान्वित होते हैं। हम बड़े हो गए तो इसका यह मतलब नहीं कि वैसी पुस्तकों को लेकर बंध जाएं जो बड़ों की समझ में न आती हों। जो पुस्तकें हमारी समझ में आएं, जो ज्ञानार्जन एवं मनोविनोद करें, ऐसी पुस्तकें हमें अवश्य पढ़नी चाहिए। बाल-साहित्य ऐसा ही वाचन होता है।

बाल-साहित्य पढ़ने के बाद आप बाल-साहित्यकारों से ऐसी रचनाएं मांग सकते हैं जो अब तक लिखी नहीं गई। कई विषय उनके ध्यान से वंचित रह जाते हैं। अगर बाल-साहित्य एक ही दिशा में दौड़ा चला जाता है तो बालकों की भलाई के लिए आप साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट करेंगे। हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि जो विषय बालकों को पसंद हो, क्या वही बाल-साहित्य के लेखन की कसौटी है ? पर क्या वह प्रवृत्ति सही है या गलत ? हमें इस पर भी विचार करना चाहिए कि क्या बाल-साहित्य गंभीर हो, उपदेशात्मक हो, जो उनके चरित्र-निर्माण और नीतिमत्ता में तत्काल मददगार हो ? क्या ऐसा बाल-साहित्य ही बालकों को दिया जाए ?

बाल-साहित्य पढ़ेंगे तभी तो हम कह सकेंगे कि जीवनोपयोगी साहित्य की जो-जो दिशाएं हो सकती हैं, उन तमाम दिशाओं की ओर बाल-साहित्य आगे बढ़ा है या नहीं। जिस प्रकार साहित्य का काम सिर्फ मनोरंजन करना ही नहीं है, उसी प्रकार से बाल-साहित्य का काम भी सिर्फ यही नहीं है। जो साहित्य साहित्य-स्नेही में आनंद भरे उसे शरीर एवं मन से आगे बढ़ने का पोषण प्रदान करे वही साहित्य है, और वही बाल साहित्य है। साहित्य के नजरिये से अगर हम बाल-साहित्य की परख नहीं करेंगे तो बाल-साहित्य को नुकसान होगा, बालकों को नुकसान होगा और साहित्य की भी क्षति होगी।

समग्र साहित्य को क्षति इसलिए होगी कि बाल-साहित्य और साहित्य दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। बाल-साहित्य साहित्य की आधारशिला है, सच

कहूं तो वही साहित्य है। नींव पर जैसे भवन खड़ा होता है वैसे ही बाल-साहित्य की नींव पर साहित्य खड़ा होता है। आज अगर हल्के से हल्का बाल-साहित्य लिखेंगे या पढ़ायेंगे तो कल उच्च साहित्य भयंकर से भयंकर (क्षति-कारक) पैदा होगा। आज का बाल-साहित्य जितना स्वच्छ, प्राणवान, विविध एवं सर्वग्राही होगा उतना ही कल का साहित्य होगा। अतः हमें बाल-साहित्य का बराबर मूल्यांकन करते रहना चाहिए।

पर कहीं हम पोंगा-पंडित न बन जाएं। बालकों को सभी तरह के निर्दोष साहित्य की जरूरत है। फकत घी-गुड़ ही पोषण नहीं देते, वैसे ही अमुक प्रकार का साहित्य ही पूरा पोषण नहीं देगा। अतः हमारा मूल्यांकन संकीर्ण दृष्टि से नहीं होना चाहिए। 'धर्म-नीति चाहिए, धर्म-नीति चाहिए', ऐसा कह कर हमें बाल-साहित्य के प्रदेश को संकुचित नहीं बनाना है। गप्पों से लेकर विज्ञान तक का और मनोविनोद से लेकर गंभीर विषयों तक का जीवन के विविध क्षेत्रों का बाल साहित्य हमें मांगना चाहिए और बालकों को उपलब्ध कराना चाहिए।

हमें इस वक्त बहुत अक्लमंद बनने की जरूरत नहीं है। थोड़ा बहुत कठिन हो, भाषायी त्रुटियों हों, विचारों का अभाव हो तब भी बाल साहित्य को स्वीकार कर लेना है। इस समय बाल-साहित्य सृजन के दौर से गुजर रहा है अतः जो भी आ रहा है, उसका स्वागत करना है। हमारी मांगें सख्त हों पर त्रुटियों को हम स्वयं सुधार लें और बालकों को सामान्य भूलों से बचा लें। इसीलिए हमें बाल-साहित्य का अध्ययन करने की बराबर जरूरत है।

बाल-साहित्य खरीद लेने के बाद हम वहीं अटके न रह जाएं। हमें भी बालकों के साथ उनके साहित्य का आस्वादन करना है। हम उनके साथ पढ़ें। सारा का सारा बाल-साहित्य ऐसा नहीं होता कि जिसे बालक स्वयं ही पढ़-समझ सकें, अपितु वह सुन कर आनन्द लेने योग्य भी होता है। बालकों को अगर हम पढ़कर सुनायेंगे तो उन्हें आनन्द तो आएगा ही, हमें भी प्रत्यक्षतया पता लग जाएगा कि उन्हें कौनसी पुस्तक पसंद आई, कौनसी नहीं आई, कैसी

भाषा उन्हें कठिन लगी, किस प्रांतीय भाषा के शब्द ने उनके आनन्द को कम किया ! बालक अपनी तरफ से तो लिख कर लेखकों को भेजने से रहे कि 'भाषा में अमुक सुधार कीजिए।' जब तक हम स्वयं बालक के पास बैठ कर उन्हें सुनायेंगे नहीं, तब तक कैसे कह सकेंगे कि अमुक-अमुक बालकों के लिए 'अनुकूल' है या 'सहज-कठिन' है ! मेरे एक मित्र ने अभी-अभी मुझसे कहा है कि जब हम छोटे थे तब साहित्य के प्रति हमारी जितनी समझ थी–जितनी शक्ति थी, उससे कहीं अधिक शक्ति आज के बालकों में है। अतः हमें अपनी दृष्टि से नहीं अपितु बालकों की दृष्टि से साहित्य को देखना सीखना है। इसीलिए हमें बालकों के पास बैठ कर उन्हें सुनना है या फिर उनकी नजर से नजर मिलाकर साहित्य का मूल्यांकन करना सीखना है। बालक किसी किताब को न पढ़ें, कहने पर भी हाथ में न लें, सुनाने पर उसे पसंद न करें, और अगर जबरन सुनायें तो नींद ले लें, तो ऐसी पुस्तक चाहे जितने प्रतिष्ठित बाल-साहित्यकार ने लिखी हो, आहिस्ते से उठा कर ऊपर ताक पर रख देनी चाहिए और उसे बाल-साहित्य में से निष्कासित कर देना चाहिए। भले ही स्वतंत्र साहित्य के रूप में उसकी कितनी ही कीमत या उपयोगिता हो, इसकी चिंता करने की जरूरत नहीं।

दूसरी बात यह, कि खरीदने के बाद पुस्तकें कहीं फट न जाएं, वैसी की वैसी रहें, इस नीयत से उन पर सख्त पहरा नहीं बिठाना चाहिए। बालकों के लिए हम अच्छे-अच्छे कपड़े लेकर आते हैं पर उन्हें आलमारी में बंद करके रख देते हैं। कभी-कभार पहनाते भी हैं तो बहुत चेतावनी देने के बाद। कपड़े बिगड़ न जाएं, हमारी ऐसी टोकाटोकी तो चालू ही रहती है। इसी तरह हम बालकों के खिलौनों को आलमारी या घर की शोभा के रूप में सजा कर रखते हैं। वे बालकों के खेलने के लिए होते हैं पर रह जाते हैं मात्र देखने के लिए। इस हद तक पुस्तकों के साथ व्यवहार नहीं होना चाहिए। पुस्तकें हमेशा सुरक्षा में रहें, उनकी संभाल पहले और वाचन बाद में, दाग लग गया तो किताब नहीं मिलेगी, फट जाए तो गुस्सा—इस हद तक हमें नहीं जाना चाहिए।

कई बार बाल-पुस्तकों की हिफाजत के बजाय लापरवाही देखने में आती है। 'ठीक है, अब बालकों को पुस्तकें दिला दी है, पढ़ने दो मनमर्जी से।' और सचमुच कहीं-कहीं देखने में आता हैं कि बच्चों की पुस्तकों की जैसे कोई कीमत ही नहीं। फटें तो कोई परवाह नहीं। क्योंकि कोई टोकता नहीं। फट जाएंगी तो दूसरी मिल जाएंगी, पापा पैसे वाले हैं और बच्चों को मुंह मांगा खरीद देते हैं। या कहीं माता या पिता स्वयं लेखक हैं, अतः किताबें तो घर में ही तैयार होती हैं।

सख्ती और लापरवाही दोनों से बचने की जरूरत है। हमें घरों में ऐसी व्यवस्था और ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि पुस्तकों की संभाल, सम्मान और प्रबंध संभव हो सके, और बालक में वैसा असर दिखाई दे।

हमें अपने घर में भी पुस्तकालय बनाना चाहिए। पुस्तकालय याने पुस्तकें रखने का स्थान ही नहीं, अपितु उनका वर्गीकरण करके वर्गवार तथा नंबर से रखने का स्थान। ऐसे ही वर्गवार रजिस्टर बनें और ईश्यू-बुक बनें। यह सारा काम बालकों को सौंपा जाना चाहिए। वे ही इसे संभालें। घर में एक से ज्यादा बच्चे हों तो बड़े वाला मंत्री बने। हम उनको वर्गीकरण में मदद दें। इससे आवश्यकतानुरूप विभाग बनाने की बात बालकों को सूझेगी। अगर कोई पुस्तक मूल्यवान भी हो तथापि अगर अयोग्य-अवांछित हो तो उसे रद्द करके निष्कासित कर देना चाहिए।

पुस्तकालय का मंत्री सबों को पुस्तकें दे और वापिस ले। इस प्रकार से उनका शिक्षण हो जाएगा। मंत्री पद को बारी-बारी से बदला भी जा सकता है और सबों को यह तजुर्बा दिया जा सकता है। सब अपनी जिम्मेदारी समझें, पढ़ते समय संभाल कर पढ़ें और सुव्यवस्था से लौटायें। यह भावना सबों में आनी चाहिए। जरा आगे बढ़ेंगे तो इस नन्हीं-सी संस्था के द्वारा अन्य दूसरी बातें सीखी जा सकती हैं, जैसे— पुस्तकालय का बजट। याने आगामी वर्ष में कितनी व कैसी पुस्तकें खरीदनी हैं। माता-पिता संस्था के अध्यक्ष बनें और बालकों द्वारा प्रस्तावित पुस्तकों को आर्थिक स्थिति के

हिसाब से स्वीकृत-अस्वीकृत करें। बालकों के भावी जीवन के लिए यह कोई साधारण शिक्षा नहीं है। माता-पिता को थोड़ा कल्पनाशील होने की, समय देने की व समझदारी दिखाने की जरूरत है।

जहां घर में एक ही बालक हो, वहां जैसी भी अनुकूल लगे, वैसी ही व्यवस्था की जाए और बालक को वह दायित्व सौंप दें। मतलब यह कि पुस्तकें हमारे कब्जे में न रखी जाएं, न ही वे बालक के हाथ में उत्तरदायित्व के बिना फेंक दी जाएं। हम बालक को निरंतर दायित्व सौंपते जाएं और पुस्तकें संभलाते जाएं। इसी तरह हम अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति की मीरास बालक को सौंप सकेंगे और इसी तरह उन्हें जिम्मेदार बना सकेंगे। मात्र आलमारी में पुस्तकें रख कर हम उन्हें कभी योग्य नहीं बना सकेंगे।

पुस्तकालय के साथ वाचनालय आता है। दोनों को अलग से एक कमरे में स्थित कर दें तो ठीक रहे। बालक भी तो नन्हें नागरिक हैं। वे भी हमारी तरह शान से वाचनालय में बैठ कर पुस्तकें पढ़ सकते हैं। ऐसी व्यवस्था करने से उनमें ऐसा भाव जागेगा और वाचनालय उन्हें एक और शिक्षा देगा। वाचनालय में शांति और व्यवस्था के साथ बैठ कर पढ़ना चाहिए यह एक नियम उनमें अनेक प्रकार का अनुशासन पैदा करेगा। प्रत्येक माता-पिता को इस दिशा में प्रयत्न करके देखना चाहिए।

बाल-साहित्य के बढ़ते प्रकाशन को देखते हुए माता-पिता सब की सब किताबें नहीं खरीद सकते, यद्यपि प्रकाशक तो यही चाहते हैं कि उनकी प्रत्येक पुस्तक घर में खरीदी जाए। अगर पैसे हों तो सुविधा की दृष्टि से जितना बड़ा पुस्तकालय बनाया जा सके उतना ही अच्छा ! यदि वह संभव न हो तो इतनी व्यवस्था जरूर करनी चाहिए कि वे तमाम पुस्तकें बालक को पढ़ने हेतु मिल सकें। पांच-सात साधारण परिवार अलग-अलग पुस्तकें खरीदें और आपस में पुस्तकों का विनिमय करें। प्रत्येक घर की पुस्तकें पांच-छह घरों में फिरें और सभी घरों के बालक उनसे लाभ लें। ऐसा हो सके तो कम खर्च में पुस्तकें पढ़ने की व्यवस्था हो जाए। फिर तो इस व्यवस्था के

लिए जो-जो नियम जरूरी हों, बनते चलें और सब उनका पालन करें। यह प्रयोग चलता रहेगा तो सब को लाभ मिलेगा, नहीं तो सब अपने-अपने घर में हैं ही।

माता-पिता या जो भी लोग बाल-साहित्य खरीदते हैं तथा अपने बालकों की प्रगति में मदद करते हैं, उन्हें संसार भर के बालकों के लिए यह धर्म भी समझना चाहिए कि अच्छे साहित्य की बराबर सिफारिश करते रहें और इस प्रकार बाल-साहित्य के वाचन को बढ़ाने में सहयोग दें। कई बार धनिक माता-पिताओं तक बाल-साहित्य की आवाज नहीं पहुंच पाती। कई बार विज्ञापनों से लोग कतराते हैं। कई बार ऐसे लोग भी होते हैं जो विज्ञापन न पढ़ें। उन सबों के अपने बच्चे हैं, और बच्चों के लिए पठनीय साहित्य की जरूरत पड़ती है, अतः प्रत्येक माता-पिता को उत्तम बाल-साहित्य का प्रचार करना चाहिए।

●

: २६ :

लक्ष्मीशंकर मास्टर की परेशानी

लक्ष्मीशंकरजी की रोजाना की यही परेशानी है कि जीवा भूगोल विषय में ध्यान नहीं देता। वे ठहरे उत्साही और खरे शिक्षक। उनकी इच्छा है कि उनका प्रत्येक विद्यार्थी सब विषयों में अव्वल नंबर आना चाहिए। इसीलिए वे अपने विषय का परिणाम सबसे सुंदर लाना चाहते हैं और इसके लिए बहुत परिश्रम करते हैं।

लक्ष्मीशंकरजी के उत्साह, उनकी ईमानदारी और मेहनत के लिए बहुत धन्यवाद। पर इससे उनकी परेशानी का समाधान नहीं होने वाला। परेशानी तो उनकी तभी मिट सकेगी, जब उनकी विचार-सरणि ही समझ-दारी पूर्वक बदल जाए।

उनकी विचार-सरणि यों होनी चाहिए कि जब इतने सारे विद्यार्थी भूगोल की पढ़ाई में ध्यान देते हैं और जीवा ध्यान नहीं देता, तो जीवा के साथ कोई खास वजह होनी चाहिए। इतने सारे बालकों को जब गुड़ भाता है और जीवा को नहीं भाता, तो उसकी क्या वजह है? इतने सारे विद्यार्थी भूगोल विषय पढ़कर ज्ञानी हो जाएंगे, और एक जीवा अगर भूगोल पढ़े बिना रह जाएगा तो उसके लिए क्या यह दुनिया उल्टी हो जाएगी? जीवा को और सब विषय रुचते हैं, एक भूगोल विषय नहीं रुचता तो क्या बाधा है? अगर लक्ष्मीशंकरजी जानते हैं कि जीवा अन्य सब विषयों में अच्छा है, गणित में तो अव्वल है, उसकी पठन-क्षमता बहुत अच्छी है, उसकी लिखावट बहुत उत्तम है, तो क्यों उसको भूगोल जबरन पढ़ाया जाए? भले ही वह इस विषय में फेल हो। एकाध विषय अगर उसको समझ में न भी आया तो कौनसा काम रुका पड़ा रह जाएगा?

मान लें कि लक्ष्मीशंकरजी ऐसी विचार-सरणि की तरफ गए तो क्या उन्हें जीवा को फेल होने देना चाहिए? उस समय अगर जीवा ध्यान न देकर इधर-उधर के नखरे करता है तो क्या उसे ऐसा करने देना चाहिए? उसके माता-पिता को वे क्या जवाब दें? जीवा को अगली कक्षा में ऊपर जाने पर नुकसान होगा तो?

लक्ष्मीशंकरजी को उत्तर दिया जा सकता है कि जी हां, जीवा को भूगोल में अवश्य फेल होने दें। एक बार अगर वह इसमें फेल हो जाएगा तो उसमें जागृति आ जाएगी—वह इस विषय में हाथ धोकर पड़ जाएगा तो यह अच्छी ही बात होगी। कई बार इसी तरह से बालकों का किसी विषय के प्रति अनादर जाता रहता है। फिर भी अगर जीवा ध्यान न दे तो यह उसका अपना सवाल है, हमें यही मानकर चलना होगा। वस्तुतः यह प्रश्न हमने खड़ा किया है, इसीलिए जीवा हमको अधिक कमजोर प्रतीत होगा। उस प्रश्न को अगर हम यथा-संभव उसी का रहने दें तो स्वयं जीवा अपने विषय में विकास करेगा। फिर जीवा भूगोल विषय की पढ़ाई में नखरे करता है और दूसरे बालकों को ध्यान लगाकर पढ़ने नहीं देता, तो जिस तरह से यह बात सही है, उसी तरह से यह बात भी सही है कि गणित विषय की पढ़ाई में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि उस वक्त उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि समय कहां चला गया, या आसपास में कौनसी घटना घटित हो गई। गणित में वह इसी कारण से एकाग्र रहता है कि यह उसका रुचि का विषय है। तो, भूगोल के समय भी अगर उसे गणित पढ़ने दी जाए, तो? तब तो रुचि का विषय उसे दुगना पसंद आएगा और जीवा की परेशानी भी मिट जाएगी। जीवा जहां जिस क्षेत्र में सफल है, वहां वह चीज उसे अधिक रास आएगी। भूगोल विषय का वह कमजोर ज्ञाता बनता है, इसके बजाय अगर वह गणित विषय का श्रेष्ठ विशेषज्ञ बनता है, तो क्या बुरा है?

लड़के कक्षा में इस वजह से शैतानी किया करते हैं कि या तो उनको शिक्षक अच्छा नहीं लगता या फिर शिक्षक का पढ़ाने का तरीका उनको पसंद नहीं आता। मास्टर लक्ष्मीशंकर और उनका गणित जीवा को पसंद है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि मास्टरजी तो उसको पसंद हैं, बस भूगोल विषय ही पसंद नहीं है। पढ़ाने की विधि तो एक-समान ही रहती है, उसको लेकर जीवा पर कोई भिन्न प्रभाव नहीं है।

लक्ष्मीशंकरजी को जीवा के माता-पिता को यह जवाब देना चाहिए कि जीवा भूगोल विषय का प्राणी नहीं है, उसको इस विषय में आनंद नहीं आता। उसको इसमें घुटन होती है। अतः जिस प्रकार आप बालक को कड़ुआ खाना नहीं खिलाते, उसी प्रकार मैं उसको समान रूप से कड़ुआ लगने वाला भूगोल विषय भी नहीं पढ़ाऊंगा।

माता-पिता पूछेंगे : 'लेकिन बालक को वह सब क्यों नहीं भाएगा? सभी कुछ भाना चाहिए। बच्चे को सभी विषय पढ़ने चाहिए ?' तो लक्ष्मीशंकरजी को यह जवाब देना चाहिए कि अगर यही बात कोई हमसे कहे तो? याने अगर कोई हमसे कहे कि हम भी किसी की इच्छा और व्यवस्था के मुताबिक आचरण करें, तो ? भला, बालकों के लिए उनकी पसंद का, उनके शरीर को पौष्टिकता प्रदान करने योग्य खाना दिया जाना चाहिए अथवा जो भी बना दिया गया हो, वही परोस दिया जाए? याने हम लोगों ने जो भी पाठ्यक्रम बना डाला है, उसी के अनुसार हमको बालकों को पढ़ाना चाहिए, अथवा जो कुछ बालकों की पढ़ने की रुचि हो, वही चीज उनको पढ़ानी चाहिए ? याने बालकों की जो आवश्यकता है, वह उन्हें न दी जाए, और जिस चीज की उनको आवश्यकता न हो वह उनको दी जाए, तो यह गलत बात ही है ना !

अब मास्टर लक्ष्मीशंकरजी को उनकी एक ही आशंका का उत्तर देना शेष रहा, कि अगली कक्षा में जाने पर अगर जीवा को नुकसान होगा, तो ?

अगली कक्षा की बात तो कौन जाने, पर अभी तो जबर्दस्ती पढ़ाये जाने से होने वाला नुकसान हमारे सामने स्पष्ट रूप से विद्यमान है। अरुचिकर विषय पढ़ाने से बालक का समय बरबाद होगा, उसके शरीर एवं मन को पीड़ा पहुंचेगी तथा शिक्षण और शिक्षक के प्रति अरुचि पैदा होगी, सो अलग ! मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा पर इस तरह से अगर आक्रमण किया जाता है तो वह अपंग बन जाता है। पंगुता की वजह से आगे चलकर वह दुखी एवं दुष्प्रवृत्ति वाला लगभग एक भयंकर आदमी बन जाता है। सोचने की बात है कि यह क्षति बड़ी क्षति है अथवा भूगोल विषय में किन्हीं दो गांवों की पढ़ाई न करने में होने वाली क्षति बड़ी है ?

अगर आगे चलकर भविष्य में जीवा अन्य विषयों का ज्ञाता बन जाएगा, उसके सामान्य ज्ञान में अगर अभिवृद्धि हुई होगी, और उसको कहीं यात्रा पर जाना होगा तो उस समय, अथवा किसी प्रसंग में जब उसको भूगोल के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी तो उस समय, वह स्वयं उपयोगी साधनों का प्रबंध कर लेगा और उनका समुचित उपयोग करके वांछित लक्ष्य पूरा कर लेगा। अगर मास्टर लक्ष्मीशंकरजी इन बातों को समझ कर अपनी मानसिक परेशानी को कम कर लेंगे तो अच्छी बात है, अगर नहीं करेंगे तो जाहिर है उनसे दुगनी परेशानी जीवा को होगी और दोनों की परेशानियां चलती ही रहेंगी, मिटेंगी नहीं।

●

: २७ :

बेचारे मास्टरजी !

उन मास्टरजी को मैं अभी भूला नहीं। उनकी दीन-हीन घबरायी मुख-मुद्रा अभी आंखों के सामने से हटी नहीं। उस दिन शाम को उनकी जो हालत हुई और मुझे जो दुख पहुंचा, वह अब भी पीड़ित करता है मुझे। दुखी दिल से बार-बार यही स्वर निकलते हैं: 'शिक्षक भाइयो ! आप लोग हिम्मतवान बनो, खड़े हो जाओ, इतने ज्यादा घबराओ मत। बड़े से बड़ा आदमी आए तब भी संयत होकर शांति के साथ जवाब दो।'

हुआ यों, कि मैं अपने एक बेरिस्टर मित्र के साथ एक शाम तफरीह के लिए एक गांव में निकल गया। हम मोटर में थे। मेरा मित्र साहिबी वेशभूषा में था। हमारी गाड़ी गांव के गौरवे में आकर खड़ी हुई और रोजमर्रा के स्वभाववश बेरिस्टर साहब रौब से नीचे उतरे और उन्हें जो आदमी पहले-पहल दिखाई दिया, उसे हुक्म के साथ उन्होंने पूछा :

'इस गांव के मास्टरजी कहां हैं ?'

सुनने वाला एकाएक खिसिया गया। उसकी आंखें ऊपर चढ़ गई। सोच के मारे भौहों के आजू-बाजू की रेखाएं खिचने लगी। हाथ पैर ढीले पड़ गए। जीभ मानो तालू से चिपक गई हो। उसके मुंह से आवाज तक नहीं निकली। साहब ने रिवाज के अनुसार खीज कर पूछा :

'कहां हैं मास्टरजी ? जवाब क्यों नहीं देते ?'

धोती-चोले वाले उस व्यक्ति ने बड़ी मुश्किल से कहा : 'मैं ही हूं साहब, इस गांव का मास्टर !'

मेरी छाती में जैसे किसी ने तान कर जोर से वार किया हो, ऐसा लगा : 'यह है मेरा हम-पेशा मास्टर ? ऐसा कायर ? घबराया हुआ ? ऐसा डरपोक ?'

मेरे मित्र तो चढ़ गए : 'अपनी स्कूल दिखाओ। किस क्लास तक चलती है ? कितने लड़के पढ़ने आते हैं ?'

मास्टरजी कांपते-कांपते हमारे आगे-आगे चले और हम उनके पीछे-पीछे। दो-चार दूसरे आदमी भी सोच में डूबे हमारे पीछे-पीछे चले आ रहे थे।

एक छोटे-से पिंजरे जैसी जगह बताते हुए मास्टरजी ने कहा : 'यहीं लगती है हमारी शाला, साहब ! लड़कों की संख्या बहुत कम है। चौथी कक्षा तक... ..'

बीच में ही साहब गरजे : 'इतनी ही संख्या क्यों है ? इस गांव की आबादी के हिसाब से इतनी ही क्यों है ? बस, तुम्हीं आलसी होगे ! बस, तुम्हीं को पढ़ाना नहीं आता होगा। नहीं तो, ऐसा क्यों नहीं हुआ कि यहां लड़के समाएं नहीं ! क्यों, ठीक कह रहा हूं, मास्टरजी ?'

मास्टरजी बोले : 'साहब ! ....'

साहब बोले : 'साहब क्या ? रुक क्यों गए ! इस शाला की बढ़ोतरी न होने में तुम्हारा ही हाथ है ना, क्यों ?'

मास्टरजी बोले : 'जी हां, लेकिन ....'

साहब फिर कड़के : 'लेकिन, लेकिन क्या करते हो ? यह क्यों नहीं कहते कि कल से आप मेहनत करोगे, लड़कों को इकट्ठा करोगे और शाला को नए लड़कों से भर दोगे !'

मास्टरजी बोले : 'जी हां !

मैं तो यह संवाद सुनता ही रहा। भौंचक्का रह गया। मन ही मन घुल रहा था। शर्मिंदा हो रहा था। 'अरे, मेरे शिक्षक बंधु ! क्यों घबरा

रहे हो ? जो भी सचाई हो उसे सभ्यतापूर्वक साफ-साफ क्यों नहीं कह डालते ? क्यों कोट, पतलून, हैट से डरे जा रहे हो ?'

मैंने अपने मित्र से कहा : 'ऐ भाई ! अब छोड़ ना बेचारे को । बेकार ही क्यों तंग कर रहे हो? एक पाई भर का तो अधिकार नहीं, फिर क्यों डरा रहे हो ?'

मित्र बोला : 'लेकिन ये डर क्यों रहे हैं ? ये मुझे ऐसा जवाब क्यों नहीं देते कि जो टन्न से मेरे माथे में बजे ?'

मैंने कहा : 'यही तो मैं सोच रहा हूं । यही खोज करनी है मुझे। शिक्षक का डर कैसे मिटे, इसी का उपाय करना है मुझे !'

मेरा मित्र शाला छोड़ कर वापिस लौटा । मास्टरजी हमें मोटर तक पहुंचाने आए । मेरा मित्र फिर से शुरू हो गया : 'देखो मास्टर ! यूं नहीं चलेगा ! यह तुम्हारी मैली धोती और बढ़ी हुई हजामत ! यह तुम्हारी गन्दी शाला और इतने से लड़के....'

मास्टरजी बोले : 'लेकिन साहब ! हमारे उच्च अधिकारी साहब ...'

'बस ! यह मैं नहीं समझता !'

मास्टरजी हाथ जोड़े खड़े रहे । मेरे भीतर आंसू भर आये । 'अरे रे, ये डरपोक मास्टरजी ? अनधिकार दबाने वाले इस व्यक्ति से कितने डर गए ? ये क्यों नहीं पूछते कि आपका नाम क्या है, आप कहां से आए हैं ? ये पूछते तक नहीं कि आप कोई अधिकारी हैं या यूं ही कोई भटकते ढोर ? बेचारे मास्टर ! मुझे उन पर — अपने हम-पेशा भाई पर बड़ी दया आई । मन में सोचा : यह बात मैं सबों को लिखकर बताऊंगा कि हम लोग कैसे झूठ-मूठ डरने वाले डरपोक हैं !'

●

: २८ :

शिक्षाधिकारी के सपने

किसी राज्य के एक शिक्षा अधिकारी थे । वे जवान थे, नए थे, नये जमाने के थे, उत्साही थे । अपने विभाग में दिन प्रतिदिन नए-नए सुधार लाने की उनकी अभिलाषा थी । एक बार वे अपने अधीनस्थ क्षेत्र का नक्शा लेकर बैठे । जिन-जिन जगहों पर शालाएं थी, उन-उन पर सही का निशान लगा था, शेष स्थानों पर कोई निशान नहीं था । नक्शा देखते ही उनकी आंखें खुल गईं । 'अभी इतनी जगहों पर शालाएं नहीं हैं ? इतनी जगहों पर अभी शिक्षण की दीपशिखा नहीं जली ? इतने वर्षों से विभाग काम कर रहा है, और अभी तक सिर्फ इतनी ही जगहों पर शालाएं खुल सकीं ?'

उन्होंने मन ही मन निश्चय किया—'प्रति वर्ष इतनी शालाएं खोली जाएंगी । इतनी तो खोली ही जानी चाहिए ।'

× × ×

एक बार शिक्षा अधिकारी महोदय अपनी पूरी तहसील की शालाएं देखने निकले । विभाग की ओर से सौंपी गई पालकी में बैठकर घूमे । दिन भर में दो जगहों पर ही जा सके और मुश्किल से दो शालाओं को ही देख सके । उन्होंने सोचा : 'इस हिसाब से तो दो साल में भी पूरी शालाओं को नहीं देखा जा सकेगा ! मेरे जैसे उच्च अधिकारी को एक वर्ष में कम से कम तीन बार तो प्रत्येक शाला को देखना ही चाहिए । इस सवारी से काम नहीं चलेगा । यह घाटे का सौदा है । दो वर्षों में एक बार जाकर शाला को देखने और परिवर्तन के परामर्श देने की बजाय घर में जाकर बैठे रहना, दोनों एक-सी बातें

हैं। राज्य इस विभाग को घाटे में चलाता है, क्योंकि उच्च वेतन भोगी अधिकारी को ऐसी सवारी में शालाएं देखने भेजता है। जबकि वस्तुत: शालाएं वैसी की वैसी पड़ी रहती हैं और अधिकारी का वेतन निरर्थक चला जाता है। इस सवारी के बजाय मोटर होनी चाहिए। उससे शालाओं पर देखरेख रहेगी, अध्यापक-गण पढ़ाई में रुचि लेंगे, उनके वेतन और समय का सदुपयोग होगा, और उसमें मोटर का खर्च निकल आएगा।'

× × ×

शिक्षा अधिकारी महोदय एक छोटे-से गांव की शाला को देखने गए। वहां का अध्यापक प्रकृति-प्रेमी था। अपनी रुचि से उसने शाला-प्रांगण में एक तुलसी का पौधा और तीन बारहमासी के पौधे उगा रखे थे। अंचल में बहने वाली नदी से उसने और लड़कों ने रेत लाकर वहां बिछा रखी थी। शाला का प्रांगण बड़ा ही नयनाभिराम देख कर साहब को लगा: 'कुछ और नहीं तो इतना तो प्रत्येक विद्यालय में होना ही चाहिए।'

साहब ने शिक्षकों के नाम एक पत्र लिखा:

प्रिय शिक्षको!

मैं आदेश भी भिजवा सकता था, पर उसके बजाय आपसे एक निवेदन कर रहा हूं। आदेश की बजाय प्रेम से आपका सहयोग मुझे कहीं अधिक प्राप्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। क्या आप अपनी शाला के प्रांगण में कुछ और नहीं तो दो-चार नन्हें-नन्हें पौधे ही लगा सकेंगे? तुलसी, बारहमासी, गलगोटा, मरवा, डोलर आदि ऐसे नन्हें पौधे हैं, जो आसानी से उग सकते हैं। अगर तुम्हारे गांव के आंचल में नदी बहती हो तो क्या वहां से रेत लाकर या मंगा कर बिछवा सकेंगे? इतना-सा काम तो आप और आपके विद्यार्थी बड़ी ही आसानी से और आनंद से कर सकते हैं। इतना करने के बाद आप देखना आपकी शाला का प्रांगण कैसा जगमगा उठेगा! शाला की शोभा शिक्षक है, और शिक्षक की शोभा है शाला!

आपका ही
शिक्षा अधिकारी

× × ×

साहब बार-बार जिले में घूमने निकले, क्योंकि अब उन्हें मोटर मिल गई थी। पहले से सूचना भिजवाना अब उन्होंने बंद कर दिया था। जब इच्छा होती तभी वे किसी गांव में पहुंच जाते और शाला का निरीक्षण करते।

एक बार उनकी मोटर दौड़ती हुई एक गांव में जा पहुंची। जाकर शाला के पास रुकी। शाला के मास्टरजी छात्रों को सवाल डाल कर सब्जी लेने गए हुए थे। मोटर दूसरे गांव पहुंची। वहां के अध्यापकजी किसी प्रसंग से मोनीटर को काम सौंप कर पास के गांव गए हुए थे। मोटर तीसरे गांव पहुंची। अध्यापकजी शाला में मौजूद थे—वे दो दोस्तों के साथ चाय पीने के बाद बीड़ी पी रहे थे। लड़के नक्शा देखने में लगे थे।

शिक्षा अधिकारीजी ने आदेश प्रसारित किया:

'शाला-समय में शिक्षकों को अपने घर के काम से या अन्य कामों से शाला हर्गिज नहीं छोड़नी है, अगर जरूरत पड़े तो अपने इन्सपेक्टर को पत्र लिख कर उसकी सूचना देनी है। फिर, शाला-समय के दरमियान शिक्षकों को चाय, बीड़ी आदि व्यसन हर्गिज नहीं करने हैं। उन्हें ऐसी कोई चीज नहीं खानी-पीनी है, जिसका बालकों पर कुप्रभाव पड़ता हो। मैं नहीं चाहता कि कोई अध्यापक बालकों को नक्शा देखने या सवाल करने देकर स्वयं इधर-उधर के कामों में अटक जाए। अगर ऐसा कहीं देखने में आएगा तो आइंदा उसके साथ सख्ती से निबटा जाएगा।'

× × ×

शिक्षा अधिकारीजी अपनी तहसील की अनेक शालाएं देख आए। उन्होंने विशेष रूप से देखा कि शालाएं गंदी हैं, लड़के उसकी अलग-बगल में ही पेशाब करते हैं, शाला के और अन्य कागज चारों ओर उड़ते हैं, लड़कों के कपड़े गंदे हैं, बाल बेतरतीब बढ़े हुए और चीकट से सने हैं, नाखून बढ़े हुए हैं, दांत गंदे हैं, हाथ-पैरों पर मैल की परत चढ़ी है।

शिक्षा अधिकारीजी ने सभी शिक्षकों के नाम पत्र लिख कर भेजा:

'हमारी शालाएं स्वच्छ रहें और वहां के बालक मैले, कुचैले न आएं, इसका उपाय आपको ढूंढना है। अब से पाठ्यक्रम में स्वच्छता का विषय जोड़ा जा रहा है। तमाम विषयों की तुलना में इसे अधिक महत्व दिया जाएगा। निरीक्षण के समय पहली जांच स्वच्छता की होगी। परीक्षक और निरीक्षक भी इसे एक विषय मानकर इसकी परीक्षा लेंगे। यह विषय पढ़ाना कठिन नहीं है, बस इसके लिए जागरूकता जरूरी है। मेरे शिक्षक बंधुओ! आप लोग इस विषय पर जितना अधिक ध्यान देंगे उतना ही यह समझिये कि स्वयं अपना और इस विभाग का हित सिद्ध कर सकेंगे।'

●

: २९ :

क्या यह सही है ?

गांव के एक भटकते हुए बालक से मैंने पूछा : 'अरे ओ! शाला में क्यों नहीं जाता? तू इधर उधर क्यों भटकता है?'

लड़के ने जवाब दिया : 'लेकिन मास्टर को पढ़ाना ही कहां आता है?'

यह जवाब सुनकर मैं तो भौंचक्का रह गया! गांव का ग्यारह वर्ष का बालक क्या बोल रहा है? मैंने उससे फिर पूछा : 'क्या तू सही कहता है? यह कैसे हो सकता है कि मास्टर को पढ़ाना न आए? लगता है तुझको ही नहीं पढ़ना होगा।'

लड़के ने निडरता और तिरस्कार के साथ जवाब दिया : 'पढ़ना तो बहुत है, लेकिन पढ़ाता कौन है? मास्टर को पढ़ाना नहीं आता इसीलिए वह लड़कों को पीटता है ताकि लड़के भाग जाएं और फिर मास्टरजी शांति से बैठें।

मैं यह बात मान ही नहीं सका। अब भी यही मानता। मैं ऐसे अध्यापक की कल्पना ही नहीं कर सकता। कैसे करूं? इधर इस लड़के का चेहरा ईमानदार लगता था। वह अंतःकरण से बोलता था, निडर होकर कह रहा था। इतना प्रभाव तो मुझ पर पड़ा ही था।

मैंने लड़के से फिर पूछा : पर इसमें मास्टर को क्या फायदा?'

लड़का बोला : 'मास्टर को पढ़ाने से मुक्ति मिली! वह खाली बैठा-बैठा गांव भर की गप्पें हाके, तम्बाकू पिए, पूरी पंचायती करे!'

'लेकिन ऐसी पाठशाला कितने दिन चल पाएगी ? बिना लड़कों की स्कूल क्या बंद नहीं हो जाएगी ? परीक्षा के समय क्या परीक्षक को पता नहीं लगेगा कि इस शाला में लड़के ही नहीं हैं, इसलिए इसे बंद कर डाले ? लगता है तू गप्पें हांकता है। लड़कों को मार-मार कर निकाल देने वाला मास्टर भी तो आखिर मारा ही जाएगा ?'

लड़का जरा वाचाल था। बोला : 'पर साहब, वह पूरे वर्ष थोड़े ही मारता है। पूरे वर्ष तो वह लड़कों को इकट्ठा होने देता है। पर जब परीक्षा नजदीक आती है तो उसे लगता है कि पढ़ाया तो है नहीं, इसलिए लड़के फेल होंगे, नतीजा खराब आएगा। और तब श्रीमानजी लड़कों को किस कदर पीटने लगते हैं ! अच्छे-अच्छे लड़के तो अपने आप मेहनत करने लग जाते हैं। ऐसे पांच-दस लड़के ही बच रहते हैं, शेष तो डर के मारे भाग छूटते हैं। फिर दस लड़कों का नतीजा अच्छा ही आता है और उल्टे मास्टर को यश मिलता है।'

लड़के की इतनी गहरी बातें सुनकर मैं तो चकित रह गया। अरे ! यह लड़का कितना होशियार और पहुंचा हुआ है ! या तो इसको किसी ने इस तरह से बोलना या मास्टर की निंदा करना सिखाया होगा, या फिर यह लड़का स्वयं बदमाश होगा और अपनी बुद्धि का इस तरह मनमाना दुरुपयोग कर रहा होगा।

मैंने पूछा : 'अरे ओ ! ये सब बातें तू सच-सच कहता है ?'

'रत्ती-रत्ती सच !' लड़के ने छाती ठोक कर कहा।

पर मेरा मन नहीं मानता। मेरे गले यह बात नहीं उतरती। यह बात बीते तीन-चार साल बीत गए हैं, पर मैं सचाई का निर्णय नहीं ले पाया। कई बार मन में सवाल उठता है : 'क्या यह सही है ?'

●

: ३० :

चिढ़ाने वाला

पाठशाला की तरफ जाते समय मार्ग में एक बालिका के पिता मुझसे मिले। कहने लगे : 'आज मुझको प्रधानाध्यापकजी के साथ उलाहना देने जाना है, आप भी साथ चलेंगे ?'

मैंने कहा : 'कैसा उलाहना ?'

वे बोले : 'एक अध्यापकजी मेरी बेटी को चिढ़ाते हैं।'

मैंने कहा : 'ऐसा हो भी नहीं सकता। आजकल ऐसे शिक्षक नहीं रहे। शिक्षकों ने अब अपनी प्रतिष्ठा को काफी बढ़ा लिया है। अब उन्होंने अपना वह पुराना हल्कापन त्याग दिया है।'

वे बोले : 'भरोसा न हो तो आओ मेरे साथ।'

× × ×

'क्यों बच्चो ! मजे में हो ना ?'

बालक खामोश रहे। उनके सामने प्रधानाध्यापकजी खड़े थे।

मैंने पूछा : 'क्या कोई अध्यापक तुम लोगों के नाम बिगाड़ता है ?'

बालकों ने जवाब नहीं दिया, ठिठक गए।

प्रधानाध्यापकजी ने कहा : 'बताओ ! जो कुछ तुम्हें कहना हो कहो। तुम्हें कोई नहीं डांटेगा।'

बालकों ने कहा : 'अंग्रेजी वाले अध्यापकजी हमारे नाम बिगाड़ते हैं।'

पास में खड़े पिता ने मेरे कान में कहा : 'देखा, मेरा कहना सच निकला ना ! मेरे बच्चे घर आकर यूंही गप्पें नहीं हांक देते ! शाला में जो कुछ घटित होता है, वह सब भालेपन से फौरन कह डालते हैं, शाला की सारी बातें ! कई बातें तो उनमें से ऐसी होती हैं कि जिनकी हम उम्मीद तक नहीं रखते ! यही नहीं, आप सुनेंगे तो संकोच में पड़ जाएंगे।'

मैंने बालकों से पूछा : 'किन-किन नामों से पुकारते हैं ?'

बालकों ने कहा : 'डेढ़ हुशियार, चपटी नाक, चंपली, रोटली, घोचे-बाज, चांपली, और ऐसे ही नामों से हमें चिढ़ाते हैं।'

हम हंस पड़े। बालक भी हंस दिये। मैंने मन में सोचा : 'बड़ा विचित्र मास्टर है ! विचित्र के साथ-साथ वह थोड़ा घनचक्कर भी होगा, उसके दिमाग का कोई ठिकाना नहीं लगा। अन्यथा वह बालकों का 'रोटली' जैसा नाम क्यों रखता ?'

हंसना रुका तो मैंने बालकों से पूछा : 'पर तुम लोगों ने भी उनका नाम बिगाड़ा है या नहीं? लगता है तुमने भी उनका जरूर कोई न कोई नाम रखा होगा !'

लड़के एक-दूसरे की ओर देखने लगे। मैं बोला— 'बताओ, बताओ, कोई हर्ज नहीं है।'

बालकों ने कहा : 'हमने उनका नाम 'चंचूड़िया' याने 'चिढ़ानेवाला' रखा है। अगर कोई हमारा नाम रखता है तो हम भी उसका नाम रखेंगे ही।'

× × ×

हम लोग प्रधानाध्यापक-कक्ष में बैठे बातें कर रहे थे। 'लड़के नाम तो नहीं रखेंगे ही ! अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा अगर अध्यापक स्वयं नहीं करेगा, तो लड़के कैसे करेंगे ?'

प्रधानाध्यापक बोले : 'ये अध्यापक हैं ही ऐसे। पहले भी अनेक बार इनसे कहा जा चुका है कि बालकों के नाम न बिगाड़िए। पर ये तो अपनी आदत को छोड़ते तक नहीं !'

एक बहन कहने लगी : 'श्रीमान ! ये बेचारे अकेले ही कहने वाले नहीं हैं। कई शिक्षकों की इस तरह बोलने की बुरी आदत होती है।'

वे पिता कहने लगे : 'हां, ठीक कहती हैं आप ! जब से इस शाला में मैंने अपनी बेटी को पढ़ने भेजा है, तब से उसने निकम्मी और बुरी बातें ही अधिक सीखी हैं। इनमें भी मास्टरों की ऐसी वाणी और लड़कियों का लड़ाई-झगड़ा तो उसने सीखा ही है।'

मैंने कहा : 'इसीलिए तो आपको अपनी पुत्री को शाला में भेजना बहुत जरूरी है।'

वे बोले : 'क्यों, किसलिए ?'

'तभी तो पता लगेगा कि शालाएं और शिक्षक कैसे है ?'

'पर मुझको यह पता लगा कर करना क्या है ? मेरे बच्चे बिगड़ेंगे तो उसका क्या होगा ?'

'होगा क्या, आपको इसके लिए शालाओं और मास्टरों से झगड़ना चाहिए। उनके उच्च अधिकारियों के पास जाकर उनकी शिकायत करनी चाहिए और नालायक अध्यापकों को बर्खास्त कराना चाहिए।'

'यह हम कैसे कर सकते हैं ?'

'तो क्या, वे बेचारे गरीब माता-पिता यह काम करेंगे ?'

प्रधानाध्यापक बोले : 'वाजिब बात है। अगर हम लोग स्वयं को नहीं सुधारते, तो शालाओं को खाली करा देना चाहिए। हमारे हाथ में एक भी बालक नहीं रहना चाहिए, तभी हम लोगों की आंखें खुलेंगी कि आइंदा से शाला में ऐसी अव्यवस्था नहीं चल पाएगी !'

मेरे हृदय में शाला और बालकों के भविष्य को लेकर कुछ प्रकाश-सा कौंधता प्रतीत हुआ।

× × ×

हम लोग घर लौट आए। प्रधानाध्यापकजी के प्रति अपनी भावना को मैंने मन ही मन स्मरण कर लिया और उनकी वह प्रतिष्ठा उसी स्थान पर स्थिर रही। लेकिन 'चिढ़ाने वाला', 'चिढ़ाने वाला' शब्द तो मेरे कानों में गूंजते ही रहे। यह बात मुझे अध्यापकजी की निंदा या बुराई के लिए नहीं लिखनी थी, पर लिखनी पड़ रही है। अगर न लिखी होती तो मेरे कान यह आवाज सुन-सुनकर बहरे हो जाते।

●

: ३१ :

एक अध्यापकजी

कल एक अध्यापकजी मिले थे। वे मेरे पास नौकरी की मांग लेकर आए थे। मैंने उनसे पूछा: 'पहले आप क्या करते थे?'

उन्होंने कहा: 'मैं एक प्राथमिक विद्यालय में पढ़ाता था। वह विद्यालय मैंने छोड़ दिया है।'

मैंने पूछा: 'किस वजह से छोड़ दिया?'

उत्तर मिला: 'कम वेतन के कारण।'

मैंने पूछा: 'पर उस वजह से आपने नौकरी क्यों छोड़ दी। आपको तो काम में लगा रहना चाहिए था।'

'नौकरी इसलिए छोड़ी कि मेरा और परिवार का पेट भरना कठिन हो गया था। मैंने इस हद तक किफायतसारी बरतनी शुरू कर दी कि हर साल घर में बीमारी आ पड़ी, मेरे बच्चे तो जैसे-तैसे अपने को जिंदा रखने की फिक्र करते, मैं उनकी तरह-तरह की आवश्यकताएं तो पूरी करता भी कैसे?'

'पर आपने ट्यूशन आदि करके आमदनी में वृद्धि क्यों नहीं की?'

'नहीं, ट्यूशन में मेरी आस्था नहीं है। ट्यूशन याने निजी स्तर पर लड़कों को पढ़ाना। उनके पीछे शक्ति खर्च कर डालने के बाद शाला में आने वाले बालकों को पढ़ाने में अरुचि पैदा होती है। परिणामस्वरूप बिना पढ़ाए रौब जमा कर, मार-पीट करके, जैसे-तैसे रटवा कर बालकों को परीक्षा के

लिए तैयार करना। यह अनीति मुझको रास नहीं आई, न मुझसे सहन हो पाई। इसलिए ट्यूशन का जीवन मैं चला भी कैसे सकता था।'

'लेकिन आपको कमाई के अन्य साधनों से–कापियां खरीदवाने पर पुस्तक विक्रेताओं से मिलने वाला कमीशन, माता-पिता द्वारा मिलने वाले छोटे-छोटे उपहार, इधर-उधर से ऐसा कुछ नहीं मिलता था ?'

'राम, राम ! जब मैं ट्यूशन रखना ही पसंद नहीं करता तो ऐसी चीजें तो स्वीकार करूं भी कैसे ? तब तो....'

'लेकिन भले आदमी ! अपने बाकी के समय में आप अपना कोई उद्योग कर सकते थे। अपना कोई स्वतंत्र गृह–उद्योग अगर आपने शुरू किया होता तो क्या दो पैसे की मदद नहीं मिली होती ? अपने घर से भी आपको ऐसी मदद दी जानी चाहिए थी।'

'आपकी बात ठीक है। यद्यपि आप मुझको जरा काल्पनिक किस्म का आदमी गिनेंगे, पर मेरा आपसे निवदेन है कि ऐसे निजी उद्योग मैं हर्गिज नहीं कर सकता। जब मैं शिक्षक हूं तो मुझको शिक्षा-संबंधी विषय का ही निरंतर चिंतन-मनन करना चाहिए, इसी विषय में मुझको गहरे में उतरना चाहिए, मुझको इसी विषय का रहस्य जानना चाहिए। जब मैं शिक्षक हूं तो मुझको मेरे शिक्षण-कार्य में पागल हो जाना चाहिए। मैं शिक्षक नहीं हूं, फिर भी मेरी पत्नी गृह-उद्योगों की बजाय इधर बाल-शिक्षण में अधिक रुचि ले रही है। उसे मेरे वाला रोग लग गया है। हम लोग बच्चों की पढ़ाई के विचार में इतने खो जाते है कि गरीबी मिटाने के प्रयत्नों तक को विस्मृत कर देते हैं। कई बार बालकों को खाना खिलाने के बाद हम दोनों भूखे ही सो जाते हैं।'

अभी तक उस युवक के साथ मैं लापरवाही से बातें कर रहा था, हमेशा की भांति अपनी ही अपनी हांके जा रहा था। लेकिन उसके अंतिम वाक्यों ने मेरा ध्यान एकदम अपनी ओर खींच लिया। मैंने उसको नख से शिखा तक नजरें डाल कर देखा। उसकी आंखों में भरी तेजस्विता को मैंने देखा। अब मैंने उससे आगे पूछा : 'लेकिन आप जैसे शिक्षा-प्रेमी का शिक्षा विभाग के

उच्च अधिकारियों ने सम्मान क्यों नहीं किया ? आपको तो वे इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त कर सकते थे और आपकी सेवाओं का सदुपयोग कर सकते थे।'

अध्यापकजी ने जवाब दिया : 'पर मुझे अपने उच्चाधिकारी के बारे में कुछ कहना पसंद नहीं। यह जरा सभ्यता की बात नहीं लगती। लेकिन फिर भी आपके प्रश्न का उत्तर देना भी आवश्यक है। मूल बात यह है कि मेरे उच्चाधिकारी को शिक्षण से कोई लेना–देना नहीं। वे अधिकारी हैं, शिक्षा-शास्त्री नहीं। वे ऑफिस को चलाते हैं, शिक्षण में नए प्रयोगों और सुधारों में उनकी कोई रुचि नहीं। वे 'ऊपर के आदेश हैं' में विश्वास रखते हैं। नाहक परेशानियों को आमंत्रित नहीं करते। संक्षेप में, मेरे उच्च अधिकारी जी पुराने ढर्रे के आदमी हैं। उनको दूसरी तरह के अध्यापक पसंद हैं, लेकिन...'

मैंने कहा : 'हां, हां, निःसंकोच कहिए। आप ऐसी कोई बात मेरे सामने व्यक्त करने में किस प्रकार का विवेक-भंग न करें। शिक्षा में रुचि लेने वाले व्यक्ति के सामने आप ऐसी बात कह सकते हैं। कहिए, जरूर कहिए।'

अध्यापकजी ने आगे कहा : 'लेकिन मैं ठहरा अलग तरह का शिक्षक। मुझसे खुशामद नहीं हो सकती। कई अध्यापक मित्रों से मुझको ईर्ष्या होती है। उनके अधिकारी उनकी शक्ति की कद्र करते हैं। वे खुशामद नहीं चाहते, काम चाहते हैं, जी-हजूरी नहीं मांगते, अच्छा शिक्षण मांगते हैं। ऐसे अधिकारी भी हैं। मैं उन लोगों का बहुत सम्मान करता हूं। पर मुझसे मेरे अधिकारी की खुशामद नहीं हो सकी, और परिणामतः मुझको नौकरी छोड़नी पड़ी।'

'खैर, यह तो अच्छी ही बात है। पर अब आप क्या करने की सोच रहे हैं ?'

'अब मैं नौकरी की खोज में हूं। यथासंभव अध्यापन का काम ही चाहता हूं। पर मैं ऐसे उच्चाधिकारी के पास काम करना चाहता हूं जो सम्मान और सहानुभूति देने वाला हो, जो प्रेरणा देता हो, और हां, जहां

मुझे इतना पर्याप्त वेतन मिल जाए कि मैं अपने परिवार का पेट अच्छी तरह से भर सकूं। अपने विभाग की महिमा बढ़ाने के लिए मैं अपने को समर्पित कर दूंगा। अपने उच्चाधिकारी को यश प्रदान करने के लिए मैं यथाशक्य प्रयत्न करूंगा। ऐसे वातावरण में जाहिर है मुझको सुख और शांति का अनुभव होगा और भरपेट वेतन मिलेगा, तो मेरा परिवार भी संतोष का अनुभव करेगा।'

× × ×

आज उस बात को एक वर्ष व्यतीत हो चुका है। पिछले पखवाड़े मैंने उन अध्यापकजी की शाला को जाकर देखा है। मुझे उनके काम से बहुत संतोष मिला है। मेरे मित्रों ने भी उनके काम को संतोषप्रद बताया है। उन अध्यापकजी ने भी मुझको बातों के दौरान बताया है कि 'जो कुछ मुझको चाहिए था, वह सब मिला है। प्रेरणादायी अधिकारी, उत्साही वातावरण, कद्रदान मालिक, और वांछानुरूप वेतन। अब मैं पूरे जीवन भर शिक्षण कार्य के लिए ही जीऊंगा और शिक्षण कार्य के लिए ही मर मिटूंगा।'

●

: ३२ :

कैसी कहानी न कहें

कहानियों को शिक्षण में तथा बालकों के जीवन में स्थान मिल चुका है। चारों तरफ कहानी, कहानी और कहानी की पुकार मचने लगी है, यह अच्छी बात है। लेकिन बालकों को कैसी कहानी कही जाए और कैसी न कही जाए, यह फर्क अनेक लोग करना भूल जाते हैं और कहानी कहने वाले लोग बालकों को हर तरह की कहानियां सुनाने लग जाते हैं। अरे, शिक्षक तक यह बात कह बैठते हैं! लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ बातें स्पष्ट कर लेनी जरूरी हैं।

कहानियों में हमारे वर्तमान आदर्श जीवन के विरुद्ध कहीं कुछ नहीं होना चाहिए। 'एक बार ऐसा हुआ था'—ऐसी कथन शैली अच्छी नहीं होती। अगर बालकों को सभी कुछ बताए बिना यूं ही काम चल सकता हो, तो उन्हें बताने की आवश्यकता ही नहीं है। जो बातें हमारे अपने लिए बहुत सीधी-सादी और सुस्पष्ट लगती हैं, वे बालकों के मन में अनेक प्रकार की उलझनें पैदा कर देती हैं। अतएव ऐसी तमाम बातें त्याज्य समझनी चाहिए।

'एक राजा था।' यह कहने के बाद 'उसके सात रानियां थीं' यह बात कहनी जरूरी नहीं है। सात रानियों से विवाह करने का आदर्श आज कहां है। यह बात तो आज निंदनीय समझी जाती है। हां, अगर सात रानियों से विवाह करने से भयंकर परिणाम बताने सम्बन्धी कहानी हो, तो ऐसी कहानी चलेगी, लेकिन अमुक रानी राजा को प्रिय थी, और अमुक अप्रिय थी, और उनसे सम्बन्धित द्वेष–बैर की बातें बालक के दिलों में जहर ही भरती हैं।

ऐसा करके बालकों को शुद्ध दुनिया की कल्पना कराने के बजाय हम उनको मलिन मनों के दर्शन कराते हैं और इस प्रकार समय–असमय, भूल-चूक से ऐसे मार्ग पर जाने की ओर इंगित कर देते हैं।

याद रखने की बात है कि शब्द बड़ा बलवान होता है। बालकों के दिलों पर उसकी छाप अंकित रहती है। अगर शब्द का अर्थ बालक न भी समझे, तब भी शब्द उनके दिलों को छूता अवश्य है। कदाचित उनके सामने कोई प्रतिकूल परिस्थिति आ जाए और ऐसी दुष्टतापूर्ण भावनाएं जाग्रत हो जाएं तो कितना जबर्दस्त नुकसान होता है। जानबूझ कर देखते हुए भी जिस स्थान पर हमको दाड़िम, पपीता, मोसमी, संतरा और आम का पौधा लगाना हो, वहां साथ-साथ अफीम के बीज नहीं छिड़क देने चाहिए। और बालकों की ऐसी उम्र को देखते हुए तो हमें हर्गिज ऐसे बीज नहीं बोने चाहिए कि बालक न उन्हें पचा सकें, न उन्हें हंस कर टाल सकें अथवा उनका दृष्टिकोण समझ सकें।

इसी भांति जो कहानियां परम्परा से चले आए हमारे वहमों को पोषित करती हों अथवा जो भूत-प्रेतों और उनके असर में हमारा विश्वास पुष्ट करती हों, हर्गिज नहीं कहनी चाहिए। बल्कि कहानियां ऐसी होनी चाहिए कि उल्टे जिनसे इन तमाम बातों का उपहास हो ! जिनसे इनकी पोल खुलती हो और सचाई सामने आती हो। ऐसी कहानियों को बड़े ही प्रभावकारी ढंग से कुशलतापूर्वक कहना चाहिए। दगेबाजी, चालाकी, धूर्तता, दुष्टता की जीत और जादुई सचाइयों की कहानियां भी नहीं कहनी चाहिए। कहानी कहने वाले को सिर्फ कहानी का शौकीन ही नहीं होना चाहिए और वह फकत कहानी कहने वाला ही नहीं हो। उसको कहानी की शिक्षा या उसके संदेश का भी ज्ञान होना जरूरी है।

आज बाल-साहित्य के नाम पर जितनी भी कहानियां छपती हैं, सामने आती हैं, या हमारे द्वारा भीतर ही भीतर कही जाती हैं, वे सब की सब कहने योग्य नहीं होती। साहित्यकार की नजर शिक्षाविद की नजर से भिन्न नहीं

होनी चाहिए, फिर भी कहीं कहीं उनमें अंतर आना संभव है और आज तो यह बात बहुत संभव है। कारण यह है कि साहित्य और शिक्षा के ये दोनों क्षेत्र अभी इतने शुद्ध और निर्मल नहीं बन पाए। इस वजह से शिक्षा की दृष्टि से जो कहानियां अच्छी प्रतीत होती हों, सिर्फ वही बालकों को कही जानी चाहिए। कहानी कहने वाला व्यक्ति भी सिर्फ कहने-सुनाने का सीरी नहीं है, अपितु वह बाल-जीवन का, बाल-शिक्षण का दृष्टा भी होता है। एक कहानी-शिक्षक सदैव सोच समझ कर सावधानीपूर्वक अपनी कहानी पसन्द करता है।

●

: ३३ :

डाक-पेटी

हाल ही में चंदूभाई ने डाक-पेटी को सुधार-संवार कर आकर्षक बनाया है। नए कागज से सज्जित यह पेटी बालकों को बहुत पसंद आई है। वे लोग उमंग के साथ चिट्ठियां लिखने को बैठ गए हैं। लिख-लिख कर वे डाक-पेटी में डालते जाते हैं। पेटी के ऊपर लंबा-चौकोर एक छेद है, जिसमें चिट्ठियां डालते ही पेटी में जा पड़ती हैं।

डाक-पेटी में डाली गई ये सारी चिट्ठियां चार बजे नाश्ते के समय डाकिया निकाल कर लाता है। जब तक दूसरा काम पूरा नहीं हो जाता तब तक डाकिया चिट्ठियों के जत्थे को हाथ में लिए खड़ा रहता है। ज्योंही 'डाक' शब्द पुकारा जाता है त्योंही वह चिट्ठियों पर लिखे पते पढ़-पढ़ कर बालकों को पत्र बांटता जाता है। बालक हाथ फैला कर अपनी चिट्ठियां ले लेते हैं। जो बालक पत्रों को बांच सकते हैं वे तत्काल खोल कर पढ़ने लगते हैं और जो बालक स्वयं नहीं पढ़ सकते, उन्हें पढ़ कर सुनाया जाता है। सभी चिट्ठियां जोर-जोर से पढ़ कर सुनाई जाती हैं। प्रत्येक पत्र में कोई न कोई नयी बात लिखी हुई होती है कि 'तुम चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं देते? जरूर देना।' किसी में लिखा होता है कि 'मुझको तुम्हारा चित्र पसंद आया। क्या एक चित्र मुझे भी दोगे?' किसी में यों लिखा होता है: 'घुमाने कब ले जायेंगे?', 'नाटक किस दिन खेला जाएगा?' आदि। चिट्ठियां बालकों के नाम भी होती हैं, बड़ों के नाम भी होती हैं और अध्यापकों के नाम भी आती हैं।

बच्चे 'डाकिया' बनने का अपना पूरा अधिकार प्रकट करते हैं। उनकी मांग रहती है कि उन्हें भी डाकिया बनने की बारी दी जाए। पते पढ़ने से उन बालकों का वाचन बढ़ता है। जब चिट्ठियां 40-50 से उससे अधिक हो जाती हैं तो डाकिये को ज्यादा पढ़ने का मौका मिलता है। जो बालक शाला में उपस्थित नहीं होते उनके पत्रों का क्या किया जाए, यह बात वह पूछ-पूछ कर तय करता है। बची हुई डाक को वह संभाल कर रखता है या किसी सही बालक या व्यक्ति के साथ सही ठिकाने पहुंचाने का प्रयत्न करता है।

जिन बालकों के नाम डाक से चिट्ठियां आती हैं, उनको चिट्ठियां पढ़ने का महत्त्वपूर्ण काम करना पड़ता है। वहां पर वे पत्र-वाचन की शिक्षा लेते हैं।

कई बालकों को पत्र लिखना पसंद आता है। कई बार तो बहुत सारे पत्र लिख लेने पर भी उनको पूरी तरह से संतोष नहीं होता, अतः वे घर जाकर और भी चिट्ठियां लिखते हैं और बाल-मंदिर में आकर डाक-पेटी में डाल देते हैं।

कई बालकों को लिखना नहीं आता फिर भी उनको चिट्ठियां लिखाने का शौक होता है। वे दूसरों से चिट्ठियां लिखवाते हैं और उन्हें बंद कराते हैं। इस तरह वे डाक से पत्र-लिखने का आनंद लेते हैं। वे लोग अपने मन में यह बात जरूर सोचते होंगे कि उन्हें कब लिखना आएगा और कब वे अपनी चिट्ठी खुद लिखेंगे?

कई लड़के चिट्ठियां प्राप्त करने के शौकीन होते हैं। वे बालकों में लोकप्रिय होते हैं अतः बहुत सारे बालक उनके नाम चिट्ठियां लिखते हैं। उन बालकों को अपनी डाक लंबे समय तक पढ़नी पड़ती है।

बालकों को सौंपी गई सारी चिट्ठियां जब पढ़ ली जाती हैं, तब शिक्षक बालकों से उन्हें एक अलग संदूक में रखवा देते हैं। इतनी सारी चिट्ठियां आती हैं कि उनसे संदूक भर जाता है। उन चिट्ठियों को अध्यापक और छात्राध्यापक समय निकाल कर पढ़ते हैं और इस माध्यम से बालकों के लेखन का और उनके मन का परिचय प्राप्त करते हैं। बाल-भावनाओं से भरे बाल-मन चित्र-विचित्र पत्र लिखते हैं और उनके द्वारा आनंद अर्जित करने के साथ-साथ नई-नई बातें सीखने को प्रदान कर जाते हैं।

इन पत्रों का अध्ययन करने से अध्यापकों को पता लगता है कि कौन-कौन से बालक साहित्य-प्रिय हैं, व्यवस्था-प्रिय हैं अथवा शैली-प्रिय हैं ? पत्रों के द्वारा ही बालकों की कठिनाइयों और मांगों का पता लगता है। उन्हीं से स्वयं बालकों संबंधी और उनके काम-संबंधी विचारों का पता चलता है।

बालक इतनी छोटी उम्र में डाक-पेटी का उपयोग करते हैं, यह एक अचरज की बात दिखती है, पर यह है स्वाभाविक। बच्चे अपने मानसिक भावों को नए-नए तरीकों से व्यक्त करने में आनंद लेते हैं। अपनी वाणी के द्वारा बोल कर तो मानसिक भावों को प्रदर्शित करने का आनंद वे काफी अर्से से लेते ही आए हैं। उन्हीं विचारों को बिना बोले प्रकट करने की एक नई ही विधि उन्हें एक नई खोज प्रतीत होती है। जिस प्रकार से तार या रेडियो आदि उनके लिए अद्भुत आविष्कार हैं, उसी प्रकार लिखकर अपने मनोभावों को व्यक्त करने की याने अपने विचारों को कागज पर लिखकर भेजने की यह विधि भी उनके लिए एक अद्भुत खोज है।

एक वन-प्रदेश में एक गोरे ने कागज के टुकड़े पर कोयले से लिखकर जब दूसरे गोरे के पास भेजा, तो वह सब कुछ समझ गया। इस तरह की क्रिया को जब उस प्रदेश के निवासियों ने अपनी आंखों से देखा, तो वे लोग गोरे को जादूगर समझने लगे और उनसे चौकन्ने रहने लगे। लेखन-शक्ति भी एक जादुई शक्ति है। यह शक्ति जब पहले-पहल बालकों के हाथ लगती है और वे उसका उपयोग करने लगते हैं तो फिर वे अविश्रांत रूप से करते ही चले जाते हैं। वे तृप्त होकर इस शोध का आनंद और लाभ लेते हैं।

डाक-पेटी की इस प्रवृत्ति के द्वारा बालकों को पूरी डाक-व्यवस्था का बोध-पाठ सहज ही हाथ लग जाता है। पत्र-व्यवहार का ज्ञान सीखने की भी यह एक नायाब प्रवृत्ति बन जाती है। अध्यापक कक्षा में बालकों को उदाहरण देकर सिखाते हैं कि कैसे पति लिखे जाएं और कैसे छोटे-छोटे पत्र। पत्र लिखते समय साफ-सफाई और व्यवस्था को लेकर भी फर्क पड़ता है। हाशिये वाला, बराबर स्थान छोड़कर शुरू किया गया, खुले-खुले अक्षरों और सीधी

पंक्ति में लिखा गया कागज एक कलाकृति की भांति सुंदर लगने लगता है और हमारी आंखें उसे उल्लासपूर्वक पढ़ने लगती हैं।

सबसे अधिक मनोरंजक और शिक्षाप्रद विभाग टिकिटों का है। बाल-मंदिर में तरह-तरह की टिकिटें बनाई जाती हैं—बालमंदिर के चित्र की, राष्ट्रध्वज की या बालक को पसंद किसी भी आकृति की। ये टिकिटें प्रत्येक पत्र को बंद करके चिपकानी पड़ती हैं। टिकिट-रहित कागज वितरित नहीं किया जाता। आर्थिक नियम का पालन करने वाले को ही सामाजिक संस्था का लाभ प्राप्त होता है। टिकिटें बनाने में बालक नई-नई योजनाएं सुझाते हैं। इस विचारधारा के पीछे उनका यह ज्ञान विद्यमान रहता है कि दुनिया भर के डाकघरों में किन-किन की टिकिटें चलती हैं और किस कारण से चलती हैं। परोक्ष रीति से बालकों को यह समझ में आ जाता है कि बाल-मंदिर में वे अपनी 'निजी टिकटें बनाकर चला सकते हैं। नए-नए आकार और प्रकार की टिकिटों को चलाने के लिए बच्चे तरह-तरह के पत्र लिखते हैं और इस प्रकार पत्र-लेखन एवं उसके कारणों का अध्ययन सुलभ करते हैं।

डाक-पेटी उन बालकों के लिए एक शैक्षिक प्रवृत्ति बन सकती है जिनको अक्षर-ज्ञान हो चुका हो। प्रत्येक विद्यालय और प्रत्येक घर में उसका स्थान तय है। माता-पिता अपने बालकों के नाम और बालक अपने माता-पिता के नाम मनोरंजन के लिए और मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-चर्चा के लिए पत्र लिख सकते हैं। विद्यालय के अध्यापकगण अगर अपना दिमाग लगायें तो डाक-पेटी के व्यवहार द्वारा बालकों को काफी-कुछ सिखा सकते हैं। और कुछ नहीं, तो वे अपने और बालकों के बीच का संबंध तो प्रगाढ़ कर ही सकते हैं।

डाक-पेटी याने एक सुव्यवस्थित दुनिया की संस्था। इस एक संस्था में आनंद आने पर इस प्रकार की दूसरी संस्था को घर या शाला में शुरू किया जा सकता है। डाक-कार्यालय भी शिक्षण एवं व्यवहार की एक संस्था है। पत्र के द्वारा घर में या शाला में बैठे-बैठे चतुर माता-पिता और शिक्षक अगर चाहें तो बहुत-सा काम कर सकते हैं।

●

: ३४ :

परीक्षा पसंद नहीं

मेरा एक मित्र मुझसे परामर्श लेने आया। 'मेरा भाई पत्र में लिखता है कि 'मैं अब विद्यालय नहीं जाऊंगा। मुझको परीक्षा देना अच्छा नहीं लगता। कल से मैं मिल में काम पर जाऊंगा।' इस संबंध में आप ही बताइए कि मैं क्या करूं ?'

मैंने मित्र से कहा : 'अब उसको विद्यालय में न भेजो। अगर भेजना ही चाहो तो ऐसे विद्यालय में भेजो, जहां परीक्षा न ली जाए।'

मित्र कहने लगा : 'ऐसी शाला तो कहीं भी नहीं है। परीक्षा तो सभी जगहों में ली जाती है। ऐसे में क्या करें ?'

'तो उसको विद्यालय से उठा लो। परीक्षा के भयंकर डर से वह बचेगा तो उसका भला ही होगा। मिल में अथवा जहां-कहीं भी वह जाना चाहे, उसे जाने दो। अगर विद्यालय में तुम्हारा भाई नहीं पढ़ेगा तो यह बात सही समझो कि वह भूखा तो हर्गिज नहीं मरेगा। यह पूरी दुनिया ही एक शाला है।'

मित्र तो चले गए। इधर मुझको मेरी अपनी परीक्षा के दिन याद आने लगे।

बाल्यावस्था से परीक्षा का जो 'हाऊ' जीवन के साथ खड़ा हुआ था वह अब तक पीछे लगा है। आज कितनी ही परीक्षाओं को लांघ-लांघ कर परीक्षा से तो मैं मुक्त हो गया, पर उसके भय से हर्गिज मुक्त नहीं हो सका। परीक्षा का शब्द सुनते ही शरीर में कंपकंपी दौड़ने लगती है; शरीर भीगता तो नहीं लेकिन पसीना आ जाता है, दिमाग में खलबली जरूर मच जाती है। यकायक परीक्षा के सपने आने लगते हैं, मानो मैं स्वयं परीक्षा दे रहा हूं। आंखें फाड़े कुर्सी पर बैठे परीक्षक को देखकर मैं घबराने लगता हूं। छाती में घबराहट छा जाती है–हाय, हाय, अब क्या होगा–ऐसा लगने लगता है और मैं चीखता हुआ जैसे हक्का-बक्का होकर नींद से जाग उठता हूं। इतनी बड़ी उम्र हो जाने पर भी मेरा डर अभी नहीं मिटा।

मैं जाग कर सोचने लगता हूं : 'सचमुच, परीक्षा बड़ी भयंकर चीज है। इतने सारे वर्ष बीत जाने पर भी मुझ पर उसका प्रभाव है।' मुझको याद आता है कि हम परीक्षा देने जाते थे तब मार्ग के देव-मंदिरों में जाकर गिड़गिड़ाते थे : 'हे सरस्वती मैया ! परीक्षा में पास कर दोगी तो आपकी सेवा में पांच दीपक जलाऊंगा।' परीक्षा किस कदर हम लोगों से देवताओं की खुशामद कराती थी ? देवताओं तक को लालच देने जाते थे !

मेरे एक साथी कहा करते हैं : 'परीक्षा का नाम ही मत लो। अब भी नींद में मुझको परीक्षा के सपने आते हैं। मानो प्रश्नपत्र मेरे सामने रख दिया गया हो और मैं जल्दी जल्दी उसको पढ़ रहा हूं। समझ में कुछ आ नहीं रहा। क्या होगा अब ? फेल हो जाऊंगा तो ?' और मेरा शरीर पसीने-पसीने हो जाता है। 'अरे रे, मेरा एक साल बरबाद हो जाएगा।' ऐसा खयाल आते ही मैं चीख उठता हूं। मानो मैं जाग उठता हूं और मुझको खयाल आता है कि अब तो डरने का कोई कारण भी नहीं है।'

मेरे ये मित्र वकील हैं। कचहरी में गवाहों को कंप-कंपा देते हैं, पुलिस अधिकारी के सामने जिरह करते हैं और न्यायाधीश के समक्ष सीधे तने रहते हैं, लेकिन बेचारे इस परीक्षा के भूत से घबराने लग जाते हैं !

मैंने सोचा था कि विद्यालयों से परीक्षा का भय और उकताहट कम हुई होगी, लड़कों को उसके मारे होने वाला दुःख अब कदाच मिट गया होगा, पर अब भी उसकी पीड़ा वैसी की वैसी विद्यमान लग रही है !

मेरे उन मित्र को शाला क्यों छोड़ देनी चाहिए? इसका कारण यही है कि आजकल परीक्षा और परीक्षकों का जोर चलता है। जब तक इनका जोर है तब तक ये निर्भय हैं। लेकिन कल परीक्षा से त्रस्त लोगों का जोर बढ़ेगा, वे इकट्ठे होंगे और परीक्षा से अपने बालकों और भविष्य की पीढ़ी को उबारने के लिए आगे आएंगे, उस समय शालाएं तो रहेंगी, लेकिन परीक्षक और उनके साथ परीक्षा का नाश हो जाएगा। आज लड़कों को शाला छोड़ कर मिल में जाना पड़ रहा है, कल परीक्षा की इस प्रथा को शाला छोड़कर किसी मिल में जाना पड़ेगा।

●

: ३५ :

मारपीट का जमाना बीत गया

एक शिक्षक ने बात ही बात में कहा: 'अब तो शालाओं से विद्यार्थियों के साथ मारपीट करने वाला वह जमाना बीत गया।' यह बात सुनकर मुझको खुश होना चाहिए था। चलो, नया जमाना आ गया है अब। यह मानकर मुझको गर्व से अपना सीना फुलाना चाहिए था। पर ऐसा हुआ नहीं। उल्टा मैं मन में खिन्न हुआ हूं। मेरा दिल बैठ गया है।

ऊपर वाली बात कहने वाले शिक्षक ने कदाचित अपनी शाला में बालकों के साथ मारपीट बंद की होगी, और इसी खयाल से वे पूरी दुनिया के बारे में यही बात मान बैठे होंगे। लेकिन स्वयं मेरा, मेरे मित्रों का, आसपास के अनेक लोगों का और स्वयं विद्यार्थियों का अनुभव भिन्न है।

शहरों की कतिपय अच्छी शालाओं के अध्यापक गण आज मारपीट करना नहीं पोसाते, इस कारण से यह बात हमें स्वीकार करनी चाहिए कि उन-उन शालाओं से तो मारपीट का जमाना अब गया। लेकिन गांवों की सैकड़ों राजकीय शालाओं में अब भी 'सोटा बाजे छमछम, विद्या आवे घमघम' का पाठ पढ़ाया जाता है और वहां के विद्यार्थियों, मास्टरों और ग्रामवासियों को यह सब बहुत स्वाभाविक प्रतीत होता है।

कतिपय अच्छे मार्गों पर दौड़ती हुई मोटरों में यात्रा करने वाले जिस तरह से यह बात कहा करते हैं कि अब सड़कों और यातायात के साधनों का प्रबन्ध हो गया है—जिस तरह से उन लोगों को यह पता नहीं कि हजारों मील तक पगडंडी के बिना भी लोगों को यात्रा करनी पड़ती है, अब भी

हजारों मील तक न गाड़ियां चलती हैं न तांगे, तब भला मोटर वहां जा भी कैसे सकती है? उसी तरह से यह बात कि, 'मारपीट का जमाना बीत गया है', ऐसी बातें मानने वाले अच्छे भले शिक्षकों के कहने के संबंध में है। कुछेक घरों से ही जिन पर ईश्वर की कृपा हुई है, आज बालकों का रोना नहीं अपितु खिलखिलाहट सुनाई दे रही है, मारपीट और धींगामस्ती नहीं अपितु प्रेम और सहयोग दिखाई दे रहा है; दबाव, धमकी और पढ़ाई का बोझ नहीं अपितु स्वतंत्रता और सर्जनात्मक प्रवृत्ति की विविध सुंदरता दिखाई देती है। पर यह तो रेगिस्तान में एकाध बगीचे जैसी स्थिति है। लाखों घरों में आज भी बच्चे दिन भर में एक से अधिक बार मार खाते हैं। जब उनकी मांएं भी उनके पिता के हाथों से मार खाती हैं तो बालकों का तो पूछना ही क्या?

यह बात सही है कि हमारे समक्ष बालकों के स्वस्थ एवं सुखी जीवन के कतिपय उदाहरण हैं, जो हमारे लिए मार्गदर्शक के समान हैं। ऐसी मार्गदर्शक बाल-शालाएं और सुखी घर अभी गिनेचुने हैं-यह बात जितनी हमारे लिए प्रसन्नतासूचक है, उतनी ही विषादपरक भी है। जहां पर लाखों बालकों को खाने के लिए पर्याप्त नहीं मिलता हो, वहां पर अगर धनवानों के बच्चे सुखी हों, तो यह बात इस दुनिया में एक बड़ी ही दुखदाई और महान आपत्तिजनक बात गिनी जाएगी। इसी प्रकार जहां लाखों बालक मार खाते हों वहां उनके माता-पिता और अध्यापक सुख की नींद कैसे सो सकते हैं? दुनिया भर के बालक उनके ही तो हैं। इन बालकों के प्रति लापरवाह बनकर शालाएं और घर भी आखिरकार अपने बालकों के सुख को स्थायी नहीं बना सकेंगे।

हजारों दुखी बालकों के बीच कुछ बालकों का सुखी रहना दुखी रहने से भी कहीं अधिक भयंकर हो जाएगा। अंततः दुख का यह मगरमच्छ नन्हीं-नन्हीं सुख की इन मछलियों को भी निगल जाएगा। सुखी बालकों के माता-पिताओ और अभिभावको! अपने बालकों की जिंदगी को अधिकाधिक सुखी बनाने तथा उनके सुख में अधिक से अधिक भाग लेने वाले अन्य लोगों को

तैयार करके उनके सुख के क्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए दुखों और मारपीट से प्रपीड़ित बालकों से कृपया बाहर निकल कर आइए।

अभी तक मारपीट का युग समाप्त नहीं हुआ। हमारे बालक भी मारपीट के युग में ही विद्यमान हैं। छुआछूत के रोग अभी नष्ट नहीं हो पाए, हमारे निरोगी बालक भी उन संक्रामक रोगों के बीच विद्यमान हैं। अभी दरिद्रता मिटी नहीं, और दो-चार सम्पन्न बालक लाखों भूखे बालकों के बीच विद्यमान हैं!

हमें उन तमाम बालकों के लिए सोचना है जो शेष रह गए हैं। जिन बालकों के लिए कोई भी संघर्ष नहीं करता, उनके लिए हमें संघर्ष करना है। जो बालक माता-पिताओं की मौजूदगी के बावजूद उनकी प्रेमपूर्ण, मधुर, विकासमान छाया तले नहीं हैं, जो बालक अध्यापकों के होते हुए भी कुशल, सहानुभूतिशील एवं दिव्य-दृष्टा शिक्षकों की अमृतमयी छाया के नीचे नहीं हैं, हमें उन सबों को वहां से बचाना है, उनको संरक्षण देना है।

प्राचीनकाल में गाय और ब्राह्मण की सब रक्षा करते थे। उनके लिए उस युग ने बहुत कष्ट सहे हैं, बहुत तेजस्विता प्रदर्शित की है। उसी प्रकार इस नए युग में अरक्षित, त्रस्त, भयभीत, तिरस्कृत बालकों की रक्षा के लिए हमें अपने भीतर क्षत्रिय भाव को जाग्रत करना चाहिए। मानव में विद्यमान दया के सागर को प्रबुद्ध करके बालकों को बचाने के लिए बुद्धों के अवतार हेतु सब मानवों को प्रभु से याचना करनी चाहिए।

●

: ३६ :

चमन को तमाचा

'आ चमन ! इधर आ। तुझे एक बात कहूं।'

देवजी मास्टर ने चमन को बड़े प्यार से बुलाया, पर चमन ने मुँह को ऊंचा ही नहीं उठाया, भला वह उनके पास क्या जाता !

फिर से मास्टरजी ने अधिक प्यार जताते हुए उसको बुलाया, लेकिन वह उनके पास नहीं गया।

मास्टरजी को तीन दिन पहले वाली बात याद आ गई। चमन अपनी पाटी पर थूक कर उसे कमीज की बांह से साफ कर रहा था, इस पर उन्होंने उसके गाल पर तमाचा जड़ा था। चमन की आंखों से आंसू ढुलक पड़े थे और वह व्याकुल मन से बैठ गया था।

मास्टरजी चमन के पास गए, उसके सिर पर तथा कमर पर हाथ फेरा, लेकिन चमन अपनी किताब में नजरें गड़ाए नीचा मुंह किए बैठा रहा।

वैसे चमन स्नेहिल बालक था।

इस घटना से पूर्व वह मास्टरजी के पास बार-बार आता था और उनके साथ कुछ न कुछ बातें करता था। कई बार तो वह उनका हाथ पकड़ कर खड़ा हो जाता और परोक्ष रीति से मास्टरजी के प्रति अपनी प्रीति प्रकट करता।

पर चमन आज कुछ नहीं बोला, न पास आया, न नजरें उठाकर सामने देखा। इससे देवजी मास्टर चिंतित हो गए। उनके मन में ख्याल आया : 'क्या यह मुझसे इस कारण नाराज है कि मैंने इसे पीटा था ? पर ऐसी गंदी आदत के लिए इसे पीटना तो चाहिए ही था ! और मैंने इसे बड़ी ही सावधानी से पीटा था, बिना गुस्सा किए ! उसके बावजूद मेरे मन में उस समय अथवा इस समय इसके प्रति कत्तई कोई नाराजगी नहीं है। मैंने तो अपना व्यवहार ही इस सूत्र के आधार पर बना रखा है कि बालक को सजा भले ही दो, पर उसके प्रति अप्रीति नहीं रखनी चाहिए।'

मास्टरजी ने एक बार फिर से चमन को प्यार से बुलाया।

लेकिन चमन नीचे देखता रहा। उस समय उसकी आंखें छलक आई थीं। धीमे-धीमे वह रो भी रहा था।

देवजी मास्टर ने फिर से मन में सोचा : 'बच्चे को सजा क्या दी, इस पर कितना ज्यादा असर हुआ है ! हमारे दिल में प्रेम हो और सजा देने के बाद भी हम वैसा का वैसा प्रेम अपने दिल में भले ही रखें पर बालकों के मन में उसे लेकर कितना अधिक खयाल आने लगता है ! सजा देते समय बालकों के प्रति प्यार रखना और सजा देने के बाद भी उनके प्रति मन में अप्रीति न रखना—यह शिक्षा-सिद्धांत कहां से आया होगा ? सजा देना भला किसे पसन्द आता है ? और सजा देने वाला व्यक्ति भी किसे अच्छा लगता है ?

देवजी मास्टर के मन में चमन को दी गई सजा को लेकर दुःख भर आया। वे चमन के पास आए और उसका हाथ पकड़ कर उसे खड़ा किया। बड़ी मुश्किल से चमन खड़ा हुआ।

चमन को अपनी कुर्सी के पास लाकर मास्टरजी ने उससे कहा : 'चमन ! मैंने तुमको पीटा था, क्या इसीलिए तू मुझसे नहीं बोलता ?'

बालक की आंखों से और अधिक आंसू ढुलकने लगे।

देवजी भी बहुत व्यथित हो उठे। उन्होंने चमन के मुंह पर हाथ फेरा और कहा : 'चमन ! रो मत। देख, आइंदा पाटी पर थूक डाल कर पोंछना मत। वह तो यूं ही हाथ उठ गया था मेरा।'

चमन ने अपना सिर मास्टरजी की गोदी में रख दिया और आंखें पोंछने लगा।

देवजी मास्टर ने सिर पर हाथ फेरा और मन ही मन कहने लगे : 'बालक को सजा देते-देते यह तो स्वयं मेरे लिए ही सजा हो गई ! सजा देने के बाद बालक के प्रति अप्रीति की भावना रखी जाए, इसके बजाय तो पहले ही प्रेमपूर्वक बालक से त्रुटि को सुधरवा लेना चाहिए, याने प्रेम शब्द से ही सजा देना सर्वोत्तम उपाय है।'

●

: ३७ :

श्यामजी मास्टर

श्यामजी शिक्षणशास्त्र में आस्था रखने वाले अध्यापक थे। ट्रेनिंग कॉलेज में उनको इस विषय में पदक मिला था। अपने अध्यापक मित्रों से वे कहा करते थे कि 'शिक्षणशास्त्र अध्यापक के लिए कामधेनु के समान है। आप लोग बार-बार इसका मनन किया करें।'

श्यामजी मास्टर शिक्षणशास्त्र के जितने भक्त थे, उतने ही विचारक प्रवृत्ति के थे। विद्यालय में कोई भी घटना घटित होती कि तत्काल वे शास्त्राज्ञा प्राप्त कर लेते और फिर उस पर स्वतंत्र चिंतन करने बैठ जाते।

एक बार श्यामजी अपनी कक्षा के विद्यार्थियों की जेबें तलाश करने लगे। वे अक्सर इस तरह के नए-नए काम करते थे। उनके स्वभाव में विचित्रता थी। इस तरह के कामों से उनके दिमाग में नई-नई शैक्षिक बातें पैदा होती थीं। कई बार वे अपनी ही मर्यादा में रह कर छोटे-छोटे प्रयोग कर लेते थे।

जेबों की तलाश करते-करते उनको लाखा नामक विद्यार्थी की जेब से अधबुझी बीड़ियों के टुकड़े मिले। लाखा पढ़ाई में अच्छा था और सब छात्रों पर उसकी छाप भी थी। आज तक श्यामजी भी उसको होशियार छात्र मानते रहे थे।

जेब में बीड़ियां देख कर श्यामजी का मुंह लाल-सुर्ख हो गया, जैसे अभी लाखा की पिटाई कर डालेंगे। लाखा भी कांपने लग गया। पूरी की पूरी कक्षा चौंक उठी।

पर श्यामजी मास्टर ने भी शांति धारण कर ली। उनको शिक्षा-शास्त्र का स्मरण हो आया कि किसी की गलती हो जाने पर दंड तत्काल नहीं देना चाहिए, क्योंकि उस समय हमारा मन उत्तेजना से भरा होता है। जब मन शांत हो जाए तब अपराध की गंभीरता पर विचार करके दंड देना चाहिए।'

वे वहां से हट गए। विद्यार्थियों को पाठ पढ़ने का काम सौंप कर वे अपनी कुर्सी में बैठ गए और मन को शांत करने लगे।

इसी क्षण घंटा बजा और छुट्टी हो गई।

खाना खाकर वे दोपहरी में जरा लेटे ही थे। एकाध झपकी आई और जाग उठे। खाट पर लेटे-लेटे ही वे लाखा के बारे में सोचने लगे : 'कितनी सजा देनी चाहिए? डंडे से देनी चाहिए या अन्य तरीके से? सबों के सामने देनी चाहिए या एकांत में?'

कुछ देर तक सोचने के बाद वे मन ही मन बोले : 'वस्तुतः शास्त्र के अनुसार तो ऐसे अपराध में सबों के सामने अधिक से अधिक दंड दिया जाना चाहिए। ऐसा दंड, कि लाखा अधिक से अधिक अपमान महसूस करे, जो उसे हमेशा-हमेशा याद रहे।'

करवट बदल कर श्यामजी थोड़ी देर तक लेटे रहे। उनकी विचार-शीलता ने गर्दन उठा कर झांका। वह उनसे पूछने लगी : 'लाखा की यह आदत कब से पड़ी? इसके पिता और चाचा तो बीड़ी पीते ही हैं, जाति के लोग भी पीते हैं। याने बीड़ी पीने का वातावरण इसके वहां है। मैंने पहले भी कभी सुना था कि इसके पिता ने इसे बीड़ी पीने के कारण पीटा था। गलियों में सभी लड़के छिप-छिप कर ऐसे धंधे अक्सर करते ही हैं, और जब पकड़े जाते हैं तो माता-पिता उनकी हड्डियां तोड़ते हैं। ऐसे में, अगर लाखा की पिटाई की जाएगी, तो क्या वह बीड़ी पीना छोड़ देगा? मार खाकर वह चिकना घड़ा बन चुका है, तो क्या मेरी मार खाकर वह और ज्यादा पक्का नहीं बन जाएगा? छिप-छिप कर बीड़ी पीने की आदत में उसको मजा आया

होगा, तो क्या अब मारने से और भी ज्यादा छिप-छिप कर तथा और भी ज्यादा मजे ले लेकर बीड़ियां नहीं पीएगा? तब तो उसको मार पीट करना फिजूल जाएगा! हां, शाला में बीड़ियों के टोटे लेकर वह न आए। कहीं ऐसा तो नहीं, कि वह कहीं गड्ढ़ा खोदकर बीड़ियां छिपा देगा!'

लाखा को दंड देने के विचार से अब श्यामजी का मन विचलित होने लगा। वे फिर से विचारों में खो गए : 'लाखा से मुझे क्या कहना चाहिए? अगर उसको डांटता हूं या उलाहना देता हूं, तो भला उसका क्या असर पड़ेगा? यूं तो वह चिकना घड़ा बन चुका है। नीचा मुंह करके दो पल के लिए मेरी बातें सुन लेगा, संभव है आंसू भी ढुलकाए। फिर वापिस वे वैसे के वैसे।

'लगता है वह छिप-छिपकर बीड़ी पीता है और इसमें उसको ज्यादा मजा आता है। तभी तो वह किसी की जूठी बीड़ियां पीता है। उसका पिता तो दुकान से खरीद कर खूब पीता है। तो क्या उसको सबों के सामने बीड़ी पीने की छूट दे देनी चाहिए? छूट देना तो ठीक नहीं होगा, पर जूठे टोटे पीने की बजाय अच्छी बीड़ियां पीने की बात तो कही ही जानी चाहिए। छिपने के बजाय सबों के सामने पीने की बात भी कही जानी चाहिए। पर क्या मैं स्वयं या उसका पिता उसको अपनी नजरों के सामने ऐसा करते देख सकेंगे? अगर वह शाला में बीड़ा लाकर पीता है तो?'

श्यामजी मास्टर को समस्या उलझ गई। वे और अधिक विचार करने लगे : 'लाखा के पिता को ही कहा जाना चाहिए कि बालक को मारना और बीड़ी पीना छुड़ाये। अपने पुत्र को बीड़ी पीने से रोकने के लिए और कुछ नहीं तो उसे स्वयं को ही कुछ आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए अथवा बीड़ी पीने से इन्कार करने के लिए पर्याप्त अधिकार रखना चाहिए। और अगर मैं लाखा को अपना मित्र बनाऊं तो? धमकाने से तो वह झूठ ही बोलेगा। अगर मेरा मित्र बन जाएगा तो मैं उससे कहूंगा कि 'देख लाखा! तुझे बीड़ी पीनी है तो आ मेरे साथ, तुझे अच्छी बीड़ी दिलाता हूं। ऐसी जूठी बीड़ी

पिएगा तो संक्रामक रोग लग जाएगा। किसी की जूठी बीड़ी में उस व्यक्ति के मुंह का रोग लगा होता है। अगर तू बीड़ी नहीं पिये तो बहुत अच्छा! यह तो एक बुरी आदत है।' सोचता हूं, अगर मैत्री भाव से मैं उसको प्रेमपूर्वक कहूंगा और उसका दिल जीत लूंगा तो वह मेरे प्रेम में बंधकर बीड़ी पीना छोड़ देगा।'

श्यामजी मास्टर सावधानी के साथ उठ रहे थे और उनके दिमाग में यह विचार उभर रहा था : 'प्रेम ही सबसे बड़ी सजा है। मैं उसके साथ प्रेम का बर्ताव करूंगा तो वह इस व्यसन से मुक्त हो सकेगा।'

मास्टरजी ने दोपहर को बीड़ी वाली बात की चर्चा ही नहीं की। पर उन्होंने समुचित कदम उठाया, जिससे लाखा उनका मित्र बन गया।

अब लाखा बीड़ियों के टुकड़े नहीं पीता, न ही खरीद कर पीने की उसकी इच्छा होती है। वह बीड़ी पीने से तो छूटा ही, अपने उन मित्रों से भी छूट गया, जो बीड़ी पीते थे।

●

: ३८ :

परीक्षा का परिणाम

परीक्षा केवल बाहरी वस्तु है। इसके द्वारा सिर्फ यही ज्ञात किया जाता है कि विद्यार्थियों ने रट-रटा कर या बहुत हुआ तो समझ-समझा कर कितना कुछ अपने दिमाग में भरा है। परीक्षा के द्वारा विद्यार्थियों की ग्रहण-धारण करने की तथा शिक्षकों की ग्रहण-धारण कराने की शक्ति का तो मूल्यांकन किया जा सकता है, परंतु वह विद्यार्थियों के विकास को तथा शिक्षक की ऐसी विकास-क्रिया को सहयोग देने की शक्ति का मूल्यांकन नहीं करती।

परीक्षा से विद्यार्थी बहिर्मुखी बनते हैं। वह उन्हें भीतर की तरफ ले जाने की बजाय बाहर की ओर निकालती है। वह उन्हें बाह्य दृष्टि से दूसरों की तुलना में वे कैसे हैं, यह बताती है और बाह्य पैमाने पर उन्हें अपना मूल्यांकन करना सिखाती है। यहीं उसमें स्पर्धा का अथवा ईर्षा का मूल विद्यमान रहता है। उसमें दूसरों की हार में अपनी जीत और दूसरों की न्यूनता में अपनी पूर्णता समझ में आती है तथा दूसरों की त्रुटियों की तुलना में अपनी त्रुटियों को ढकने का भाव जगाया जाता है।

परीक्षा से अभिमान आता है और निराशा भी। दूसरों की तुलना में बालक आगे आता है उसमें मिथ्याभिमान पैदा होता है और परीक्षा जिसको पीछे रख देती है वह निरुत्साही बन जाता है। कालांतर में मिथ्याभिमानी और निरुत्साही दोनों की प्रगति को परीक्षा अवरुद्ध कर डालती है; अभिमान जगा कर एक ओर बालकों के लिए ज्ञान के सही मार्ग में अंधकार भरती है, तो दूसरी ओर निरुत्साह पैदा करके विघ्न उत्पन्न करती है।

परीक्षा शाला में ही नहीं चलती, हमारे घरों में भी तरह-तरह की स्पष्ट-अस्पष्ट परीक्षाएं चलती हैं। यही कारण है कि आज का मनुष्य अपने भीतर का नहीं रहा, बाहर का बन गया। स्वयं अपने लिए जीने की बजाय बाहर के लिए जीता है। आतर नीति, आंतर धर्म और आंतर शक्ति के बजाय वह बहिर् नीति, बहिर् धर्म और बहिर् शक्ति से विमोहित होता है। बाह्य पैमाने पर स्वयं को मापता है और इसी में संतोष एवं सार्थकता अनुभव करता है। संक्षेप में, वह अपने भीतर से मर कर याने अपनी आत्मा से मर कर, बाहर से याने शरीर से जीता है।

जिस व्यक्ति की बाहरी परीक्षा की ही आदत पड़ जाती है, वह दिन प्रतिदिन दंभी बनता जाता है। उसके मन में हर समय यही खयाल बना रहता है कि लोग उसके बारे में क्या सोचेंगे, कैसा महसूस करेंगे, कैसा मूल्यांकन करेंगे आदि-आदि। परिणाम यह होता है कि उसे अपनी अंतरात्मा के कथन को रोकना पड़ता है, आंतरिक वेगों को दबाना पड़ता है और अंत में भीतर से शून्य होकर बाहर अकेला पड़े रहना पड़ता है।

जिसको बाहरी परीक्षा का विष चढ़ जाता है वह हमेशा भयभीत रहता है, 'हाय राम, अब परीक्षा होगी! क्या पता पास होऊंगा या फेल? परीक्षा में ऊपर चढूंगा या नीचे गिरूंगा?' इन भूतों से वह बेचारा भ्रमित रहता है। स्कूल परीक्षा का भय जिस क्षण पूरे जीवन में फैलता है तब तो जीवन बिल्कुल कड़ुआ लगने लगता है। अगर व्यक्ति इस भय से मुक्त नहीं होता तो वह पागल हो जाता है।

परीक्षा की प्रथा में तैयार होने वाला मनुष्य 'शर्त' के घोड़े जैसा होता है। जब 'शर्त' की जाती है तभी उसमें बल आता है। जिंदगी के जुए का एक भी प्रसंग उसे आनंद दिये बिना नहीं जाता। जीवन को वह जुए की तरह खेलता है, देखता है, या तो हारेगा या जीतेगा।

परीक्षा के दौर से गुजरने वाला व्यक्ति व्यसनी के जैसा होता है। बाहरी दुनिया के सामने खड़े होते समय, या संसार के अपवाद को समझते

समय, न जाने कहां से उसके अंदर नशेबाजों वाला क्षणिक जोश आ जाता है, पर नशा उतर जाने के बाद जिस तरह नशेबाज को टके सेर कोई नहीं पूछता वैसे ही बाहरी उत्तेजना समाप्त होने के बाद वह आदमी भी अशक्त होकर गिर जाता है।

परीक्षा ने व्यक्ति को अपने प्राणों की खोज से रोका है, उसे आत्मज्ञान के मार्ग से अवरुद्ध किया है। फलतः वह अपना सम्पूर्ण जीवन सांसारिक दृष्टि से व्यतीत करता है तथा आत्मज्ञान के बजाय परायों की पंचायती में अंटा रहता है।

वस्तुतः परीक्षा बाहर की नहीं, आंतरिक होती है। परीक्षा ज्ञान की नहीं, शक्ति की होती है; तथ्यों की नहीं, विकास की होती है; वह दूसरों के लिए नहीं, अपने लिए होती है; और परीक्षक भी बाहर का नहीं, अपितु भीतर का होता है।

●

: ३९ :

गृहकार्य

अपने घर में या कहीं अन्यत्र जाकर बैठता हूं और बालकों को जब गृहकार्य में व्यस्त देखता हूं तो मैं कांप-कांप उठता हूं। कोई बालक इतिहास पढ़ रहा होता है, कोई कविता याद करता है और कोई अन्य किसी पाठ की नकल करता होता है।

प्रातःकाल का सुंदर, रमणीय समय होता है और सूर्य की सुनहली किरणें धरती पर उतरती हैं, ऐसे में दो घड़ी ठंडी हवा में बाहर जाकर घूमने का मन करता है। पर लड़कों को तो उस समय गृहकार्य करना पड़ता है।

समय भले ही सोने का हो, आंखों में नींद समा रही हो; अपना खाना खाकर नयी-नयी बातें करने का समय हो; या पिताजी की मधुर बातें सुनने का मन हो; अथवा फिर बाहर खिली हुई चांदनी में खेलने-कूदने का मन हो; पर लड़कों को उस समय गृहकार्य करने में लगना पड़ता है।

यह गृहकार्य भी एक त्रास है। कितने घंटों तक शाला में रहकर पढ़ना और उसके बाद भी घर लौटकर फिर उसी काम में लगना?

शिक्षक तो पढ़ाने में ही थक जाते हैं, लेकिन विद्यार्थियों को तो पढ़ने की और गृहकार्य करने की–दोनों थकानों को सहन करना पड़ता है। शिक्षक तो शाला से छूटे नहीं कि काम निबटा; पर लड़कों के पीछे तो गृहकार्य का भूत लगा ही रहता है, जो न उनको रात में सुख से सोने देता, न सबेरे सुख से खेलने देता।

जब गृहकार्य पूरा नहीं होता तो लड़के अकुलाते हैं, परेशान होते हैं, घबराहट में अधिक से अधिक पढ़ते हैं। जैसे-जैसे वे दुखी होते जाते हैं तो वैसे-वैसे उनकी मस्तिष्क की दुर्बलता बढ़ती जाती है और वे पढ़ी हुई बातों को भूलते जाते हैं। फिर तो होता यह है कि बिना समझे वे रटते रहते हैं।

गृहकार्य पूरा नहीं हुआ और खाना खाने का समय हो गया। खाना तो खाना ही पड़ेगा, विद्यालय जाना ही पड़ेगा–इनके बिना छुटकारा ही कहां है! पर गृहकार्य? वह तो पूरा ही नहीं हो पाया! कुछ सवाल करने से रह गए। अभी कविता नहीं आई, मास्टरजी डांटेंगे, नंबर कट जायेंगे!

ऐसे में बालक को खाना नहीं भाया और वह शाला चला गया। गृहकार्य तो पूरा नहीं हो पाया और कक्षा में पहुंचते ही काम मांग लिया गया। तब भला मास्टरजी तो डांटेंगे ही। बेचारा लड़का न तो खेला, न घूमने गया, गृहकार्य करता ही रहा, फिर भी उसको आया नहीं—वह काम नहीं कर सका, इस बात का मास्टरजी को क्या पता लगे? और पता लग भी जाए तो उनको क्या परवाह? उनको डांटने-धमकाने, मार-पीट करने या कम्पोजिशन का काम देते कौन रोकने वाला है? और पढ़ने का काम तो आगे चलता जाता है—दूसरे दिन दूसरा पाठ, तीसरे दिन तीसरा पाठ और परीक्षा के दिन तो गृहकार्य के विशाल पर्वत! उनके नीचे कुचल कर विद्यार्थियों को मरना पड़ता है।

क्या हम बालकों को गृहकार्य के इस बोझ से मुक्त करना नहीं चाहते? उपाय तो बहुत हैं, बशर्ते कि मन हो।

पहला उपाय यह है कि घर से गृहकार्य करके लाना बिल्कुल बंद कर देना चाहिए। जितना कुछ बालक के लिए शाला में (लेखन, वाचन, गणित) सीखने को पड़ा है, उससे कहीं अधिक और मूल्यवान शिक्षण सामग्री बाहर पड़ी है—बिना किसी पाठ्यपुस्तक के या बिना कोई पाठ रटे! विद्यालय से लौट कर बालकों को वही पढ़ाई पढ़नी चाहिए। गृहकार्य हर्गिज नहीं देना चाहिए। अगर इससे भी एक कदम आगे बढ़ने का मन हो तो बालक अपने हाथ-पैर लेकर ही शाला में जाएँ और जैसे गए थे वैसे ही लौटकर आएं। उनकी पाठ्यपुस्तकें आदि सब शाला में रहें।

दूसरा उपाय यह कि शाला में अच्छी पढ़ाई हो। गृहकार्य देने का मतलब है बालक को उसके लिए तैयार करना और तैयार होने का मतलब है

अधिकांशतः रट-रटा कर काम पूरा करना। जिस शाला में अच्छी पढ़ाई नहीं होती, वहां रटने पर ही बल दिया जाता है। यह बात सभी अध्यापक जानते हैं। अगर बालक को समझाते हुए पढ़ाया जाता है और बालक भी समझ के साथ पढ़ता है तो गृहकार्य कराने की जरूरत ही नहीं पड़ती—यह हमारी अनुभूत बात है। अतएव हम बालक को अच्छी तरह से सिखाएं, उसके मन में विचार स्थिर हो जाए, इस तरह से पढ़ाएं, उदाहरण देते हुए और प्रयोग बताते हुए पढ़ाएं।

तीसरा कदम इस भ्रांति को दिल-दिमाग से निकाल देना है कि जिस बालक को जबानी याद हो वही ज्ञाता है। पढ़ाने में रटने की बात बहुत प्रबल है और इसलिए वह नीरस चीज है। आवश्यक बात है समझना। तोता-रटंत बेकार है। परीक्षा में भी परीक्षक रटंत ज्ञान की अधिक अपेक्षा रखते हैं, उसके बजाय होना यह चाहिए कि वे बालक की बौद्धिक-शक्ति के प्रयोग की अपेक्षा रखें।

चौथा उपाय यह है कि बालक को जो कुछ काम कराना हो, शाला में ही कराना चाहिए। विद्यालय-समय का अंतिम घंटा बालकों को दिन भर पढ़े गए पाठों का मनन करने के लिए रखना चाहिए। उस समय उनके अध्यापकजी उनके बीच घूमते रहें और उनकी उपस्थिति में बालक दिन भर की समझायी गई बातों को एक बार फिर से ताजा कर लें। जहां उनको कोई बात समझ में न आई हो, वह अध्यापकजी से पूछ लें और दिन भर के ज्ञान को पक्का कर लें। अगले दिन तो अगला पाठ ही पढ़ाया जाना है, उसकी बात अगले दिन ही सोची जानी चाहिए। पहले यह जरूरी है कि शाम को बालक अपने पढ़े हुए ज्ञान को स्थायी बना लें। याने पचाने का काम आज होना चाहिए, यही आज का गृहकार्य है।

बालकों को इस प्रकार काम कराया जाना चाहिए। शिक्षाधिकारियों को ऐसे ही शिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। अगर अध्यापकगण भी इन्हीं सूत्रों को अमल में लाते हैं तो फिर देखें उनको बालकों का कैसा हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त होता है ! ●

: ४० :

इसे कहते हैं स्वैच्छिक काम

कितने सारे बालक काम करने में लगे हुए थे और उनमें कितना अधिक उत्साह था ! उत्साह के पीछे उनका कितना अधिक आनंद था !

उनको किसी ने जबरन काम करने को सौंपा नहीं था, फिर भी वे एक घंटे से रेत इकट्ठी कर रहे थे और सामने की दीवार के पास उसका ढेर लगा रहे थे। उस काम में वे इतने तल्लीन थे कि रेत को उठाने के कारण उनके शरीर मैले हो गए थे, उनके माथे में धूल भर गई थी, उनके कपड़े धूल से सन गए थे—इन बातों में उनको खयाल तक नहीं रहा। मुंह नीचा किये वे तो बालटियां भरते थे और भरी हुई बालटियों को खाली करते थे।

उनके गालों में लालिमा थी, आंखों में चमक थी, हाथ-पैरों में काम करने का बल प्रत्यक्ष था, मन प्रसन्न था और आत्मा तृप्त थी।

आज उन लोगों को मन-पसंद का काम मिल गया था। यह ऐसी प्रवृत्ति थी कि जिसमें वे अपने हाथ-पैरों को हिला सकें, इन्द्रियों को काम में ला सकें, तथा मन की शक्ति को प्रयुक्त कर सकें।

कई बालकों के लिए तो यह पहली-पहली ही प्रवृत्ति थी। घर में उनको इस तरह से धूल-माटी में कौन खेलने दे ? उनके घरों में इतनी विशाल जगह कहां थी कि वहां जाकर खेल सकें ? लेकिन कई बालकों को यह खेल बहुत पसंद था, क्योंकि वे गलियों में अक्सर खेला करते थे।

बालटियां उठाते-उठाते वे कई बार गिर जाते थे, या डिग जाते थे, फिर भी वे हंसते थे, उस काम में वे मजा ले रहे थे।

उन पर कोई हुकम छोड़ने वाला मुखिया नहीं था। हां, उनकी सहायता के लिए शंकर भाई थे। इसी कारण से वे डर से काम नहीं कर रहे थे, कमाने के लिए या भय से काम नहीं कर रहे थे, वे तो अपने मन की भावना को संतुष्ट करने के लिए काम कर रहे थे। उनके शरीर, इंद्रियों और मन के लिए जो काम जरूरी था, वह उन्हें मिल गया था, इसी से वे काम में तल्लीन थे। इससे उनको विकास में मदद मिलती थी, इसी से उनको यह काम पसंद था—यही नहीं, अत्यंत प्रिय था।

बालकों को कोई यह कहने वाला नहीं था कि 'सहयोग करो, मदद करो, मिल-जुल कर काम करो !' फिर भी वे सब मिल-जुलकर काम करते थे, पारस्परिक सहयोग से काम करते थे। अगर कोई बालक थक जाता, तो दूसरा बालक आकर उसका काम संभाल लेता और पहला बालक थोड़ा आराम कर लेता। कोई किसी से ईर्ष्या नहीं करता था कि जब अमुक बालक काम नहीं करता तो हम ही क्यों करें ? कारण यह था कि सबों को यह काम पसंद था। सबों के लिए पर्याप्त काम था, कोई कमी नहीं थी। जिससे जितना हो सकता था, उतना ही वे करते थे, उससे अधिक नहीं—ऐसी बढ़िया समझदारी थी उनके बीच में।

ऐसा सहकारी काम—मिलजुल कर करने का काम वे बालक कर रहे थे और मैं उन्हें देख रहा था।

देखते ही देखते बालकों ने कितना ही काम कर डाला। उनको इस बात का खयाल ही नहीं आया कि देखते ही देखते एक घंटे का समय कैसे बीत गया ! इसका खास कारण यह था कि जब कोई काम स्वेच्छा से किया जाता है तो शरीर की तमाम शक्तियां जाग्रत रहती हैं, सारा काम उत्साहपूर्वक होता है, और उसके साथ ही साथ सहयोग, शांति तथा प्रेम बढ़ता जाता है। सच बात तो यह है कि काम के सामने बालकों को अथवा किसी को आपत्ति नहीं होती। लेकिन जब कोई काम जबर्दस्ती सौंपा जाता है तो उस काम का माधुर्य समाप्त हो जाता है और काम करने वाले ठंडे पड़ जाते हैं। उनका विश्वास खो जाता है और अंत में वे प्राण तक खो बैठते हैं। पर यह तो स्वेच्छा वाला काम था !

: ४१ :

प्रेम की आज्ञा

हर युग में आज्ञा उतरती है और युग-प्रवर्त्तक उसे ग्रहण करते हैं। नास्तिक अथवा आस्तिक युग में भी ऐसी आज्ञा शिरोधार्य की गई थी और आज भी शिरोधार्य की जाती है।

जिन लोगों ने ऐसी आज्ञा को सुना है तथा उसे जीवन में उतारा है वे लोग इस पृथ्वी पर समर्थ जनों का यश स्थापित कर गए हैं, और जो लोग इसे जीवन में उतार रहे हैं वे संसार के उद्धार की प्रवृत्ति में अमूल्य योगदान दे रहे हैं।

यह आज्ञा बहुत साधारण है, पर अभ्यास के बगैर इसे जीवन में उतारा नहीं जा सकता। अभ्यास की नींव है आग्रह, उसका बल है सतत उद्योग, और उसकी शुद्धि विश्वास है। ऐसा अभ्यास हम अध्यापकों को अपनी आज्ञाओं को लेकर करना है, पर एक साधक की तरह !

यह आज्ञा, किसी अन्य लोक से नहीं आई, पुस्तकों से प्रकट नहीं हुई, पर्वत से नहीं उतरी, अपितु शिक्षण से सम्बद्ध संतों के हृदय से उपजी है। वह आज्ञा यह है : बालक को सिर्फ देह से मत पहचानो अपितु आत्मा से पहचानो, उसकी आत्मा युगों पुरानी है, अनादि है, सर्वज्ञ है। शरीर से ही उसका आरंभ नहीं हुआ है और न शरीर के साथ उसका अंत होने वाला। यह आत्मा अपने विकास के निमित्त अग्रिम प्रवास के लिए नया शरीर धारण करके आई है। इसका उद्देश्य इसी के पास है, इसका फल इसी के भीतर है जिस तरह से बीज में वृक्ष और फल विद्यमान रहते हैं। अपना मार्ग और

लक्ष्य यह जानती है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, क्रियाशक्ति, कल्पना आदि साधनों के द्वारा यह अपना दर्शन करने के लिए सन्नद्ध है। इस प्रवासी के मार्ग में तुम मत आना। न तुम इसे अपने मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा देना। इसे प्रलोभन देकर अपनी तरफ मत खींचना, न कोई जोर-जबर्दस्ती करना। तुम्हारा मार्ग तुम्हें मुबारक !

इसीलिए यह आज्ञा कहती है : तुम उनके रास्ते में मत आओ। उनको अपनी गति और शक्ति से आगे बढ़ने दो। तुम्हारा पैमाना बहुत छोटा और ओछा है। इससे इनको मापने की भूल मत कर बैठना। न तुम इन्हें अपनी मर्यादा में बांधने की कोशिश करना। तुम अपने ममत्व में कहीं इनके पतन का कारण मत बन जाना। अगर तुमसे हो सके तो इनके विकास-मार्ग में मदद करो। बुद्धि के मार्ग को जिस प्रकार बोधिसत्व साफ करते हैं, निष्कंटक करते हैं, निर्भय बनाते हैं, उसी प्रकार तुम भी बालकों के मार्ग को स्वच्छ, निर्भय, निष्कंटक एवं निर्मल करो। जिस प्रकार किसान या माली अपने पौधों की पशुओं द्वारा विनाश से रक्षा करता है, उसी प्रकार तुम भी असत्य एवं हीनताओं से अपने बालकों की रक्षा करो, उनके विकास के निमित्त तुम्हारे पास जो समृद्धि है वह उन्हें प्रदान करो, और अगर न हो तो उनके लिए उपलब्ध करो। इतनी सुविधा देने के पश्चात् बालक स्वयं अपना विकास कर लेंगे।

जिस प्रकार से खगोल-वैज्ञानिक अपनी दुरबीन से आकाश के तारों की गति का अवलोकन करते हैं उसी प्रकार तुम भी विकास के नियमों की शोध के लिए तटस्थतापूर्वक बालकों का अवलोकन करो, और कोई राहु उन्हें ग्रसे उससे पहले बालकों को आसन्न भय एवं क्षति से बचा लो। बालकों के अपने प्रयासों को रोके बगैर, संसार में जो-जो लाभकारी चीजें उपलब्ध हैं, जो संस्कृति निर्मित हुई है वह उन्हें आसानी से उपलब्ध हो सके, ऐसा एक अनुकूल वातावरण निर्मित करो। कहीं यह न समझ बैठना कि बालक मानव की प्राथमिक अवस्था में है और उसी की तरह प्रयोगों के दौर से गुजरते हुए आगे बढ़ेगा। संसार की गति जहां से आगे विकास करती है, वहीं से बालक

आगे बढ़ना चाहता है, यही बात हमें समझनी है। जितनी गंभीर हमारी यह समझ होगी, उतना ही अधिक हममें यह विवेक जागेगा कि बालकों के प्रति किन विधि-निषेधों का प्रयोग किया जाना चाहिए। अगर हम बालकों के प्रति ऐसा दृष्टिकोण अपनायेंगे तो हम उनके प्रति मताग्रहों से, संकीर्ण मान्यताओं से, उनके विकास संबंधी नए-पुराने विचारों से मुक्त हो सकेंगे।

बालक अंततः श्रेष्ठ व्यक्ति बनना चाहता है। हमारा प्रयत्न भी उसे उसी दिशा में बढ़ने देना है। गलत रास्ते पर जाने वाले बालक को वहां से रोकने और लौटाने में हमें भूल नहीं करनी चाहिए। उसकी स्वतंत्रता सत्य एवं सुख की तलाश के निमित्त है, सत्य एवं सुख के अनुभव के लिए है। लेकिन जिस तलाश से दुख प्राप्त होता हो, तो वह शोध का मार्ग गलत मार्ग है। उस मार्ग की तरफ जाने की छूट देना स्वतंत्रता नहीं है अपितु स्वच्छंदता है। बालक अपनी मर्जी के अनुसार इसीलिए चलता है कि वह हमारी इच्छा का दास न रहे, अपितु अपनी मर्जी का मालिक बने। जब वह अपनी अधोगामी इच्छा का गुलाम बन कर उसके अधीनस्थ आचरण करता है, तब वह स्वयंस्फूर्ति अथवा स्वतंत्रता के प्रदेश से बाहर चला जाता है और विनाश के मार्ग पर चल देता है। ऐसे समय में हमें उसको सहानुभूति तथा प्रेम के साधनों से स्वाधीनता के मार्ग में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, यही हमारा धर्म है।

शिक्षकों, माता-पिताओं, समाजसेवकों, राजनीतिज्ञों के लिए यही एक आज्ञा है, संसार के मंगल एवं कल्याण के लिए यही एक आदेश है। यह आदेश किसी सत्ता से नहीं है अपितु विश्व कल्याण की भावना से है, समष्टि के प्रेम से है। मैं चाहता हूं कि हम में से हरेक इस आज्ञा को बालकों के हित की दृष्टि से वहन करे।

●

: ४२ :

कक्षा में

मैं कक्षा में प्रसन्नचित्त होकर जाऊंगा।

विद्यार्थियों के नमस्कार को प्रेमपूर्वक स्वीकार करूंगा।

मैं उनके बीच बैठूंगा और उनकी खैर-खबर पूछूंगा।

मैं विद्यार्थियों के कपड़ों, उनकी आंखों और नाखूनों को देखूंगा, और उन्हें साफ कराऊंगा।

इसके बाद मैं सबसे कहूंगा कि 'अब आओ हम आंखें बंद करके शांतिपूर्वक बैठें।'

उस समय मैं एकाध भजन गाऊंगा या फिर एकाध कहानी कहूंगा।

हंसते-मुस्कराते हुए मैं विद्यार्थियों से कहूंगा कि 'अगर तुम, लोगों ने अपने पाठ तैयार न किये हों तो अब कर लो।'

जो विद्यार्थी काम करके ले आएंगे, मैं उनका काम देखने के लिए उनसे ले लूंगा।

काम करके लाने वाले बालकों को मैं दूसरे बालकों को समझाने के लिए भेज दूंगा।

जब सबों का काम पूरा हो जाएगा तो हम साथ-साथ खेलेंगे और फिर सब मिल-बैठ कर प्रार्थना करेंगे और घर जाएंगे।

●